Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 9 अंक 1 जनवरी 1995

उन्मीलन

हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण, रा. प्र. पांडेय,
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1.	आओ कुछ सोचें	दयाकृष्ण	1
2.	धर्म-संकट	मुकुन्द लाठ	11
3.	आत्म-कथा	रमेशचन्द्र शाह	29
4.	अद्वैत वैदान्तिक कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष	नारायण शास्त्री द्राविड़	43
5.	प्रतिक्रिया भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद : प्रोफेसर द्राविड़ के उत्तर पर एक दृष्टि	बी. कामेश्वर राव	53
6.	उन्मीलन गोष्ठियों के विवरण		
	1. श्री यशदेव शल्य के न्यायविषयक विचार पर टिप्पणी	सरला कल्ला	56
	यशदेव शल्य का उत्तर	यशदेव शल्य	62
	2. प्रोफेसर दयाकृष्ण के 'नया सोचने के लिए आमंत्रण' लेख पर टिप्पणियां	यशदेव शल्य	66
		राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	72
7.	पुस्तक-समीक्षा	आलोक टण्डन	77

वार्षिक शुल्क
निजी. रु. 30/-
संस्था रु. 50/-

आजीवन शुल्क
निजी रु. 300/-
संस्था रु. 3000/-

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302018

यशदेव शल्य तथा मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान के लिए संपादित तथा प्रेस में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. **प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे,** 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद – 211002
2. **प्रोफेसर दयाकृष्ण,** बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर 302004
3. **प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद पांडेय,** आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर।
4. **डॉ. रमेशचन्द्र शाह,** एफ 3/2, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल–462002
5. **अशोक वाजपेयी,** सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली–110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर–302018
2. **डॉ. मुकुन्द लाठ,** ए. 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006

आवश्यक सूचना

उन्मीलन का इससे पिछला अंक जुलाई, 1992 के अंक के रूप में गतवर्ष प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार हम दो वर्ष से अधिक पीछे चल रहे थे। इस विलंब को हम पूरे अंक शीघ्र निकालकर समाप्त नहीं कर पायेंगे, किन्तु भविष्य में हम प्रतिवर्ष दो अंक निकालने का पूरा प्रयत्न करेंगे। इसलिए हमने इस अंक को जनवरी, 1995 के अंक के रूप में ही प्रकाशित करने का निर्णय किया है। जुलाई, 1995 का अंक दिसम्बर तक प्रकाशित कर दिया जायगा।

संपादक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आओ कुछ सोचें

दयाकृष्ण

आपको शायद याद हो, पिछली बार हमने आपको कुछ नया सोचने को निमंत्रण दिया था। पर यह नये-पुराने की बात क्या है? और विचार नया है या पुराना इसका फैसला कौन करेगा और कैसे करेगा? यह तो इतिहास की बात हो जाएगी और फिर जो किसी को नया लगता है उसे कोई दूसरा यह बताकर हमेशा पुराना साबित कर सकता है कि किसी ने वैसा पहले भी सोचा था। इसलिए बात पुराने या नये की नहीं है, सिर्फ विचार करने की है, यह सोचे बग़ैर कि वह नया है या नहीं।

पर आख़िर यह सोचना क्या है और सोचने का अर्थ क्या होता है? एक तरह से देखें तो सोचना किसी प्रश्न या समस्या के संदर्भ में ही होता है। जब तक कोई सवाल पैदा नहीं हो या कोई समस्या नहीं हो तब तक हम उसका उत्तर या हल भी नहीं ढूँढते, और एक तरह से कहें तो जवाब की तलाश करना या हल को खोजना ही विचार करना होता है। लेकिन, समस्याएँ तो कई प्रकार की हो सकती हैं और सवाल भी अनेकों प्रकार के। पर जिस सोचने की बात हम कर रहे हैं वह एक प्रकार के सवालों से या समस्याओं से खास तौर पर जुड़े प्रतीत होते हैं और वे प्रधानतः बुद्धि से ही सम्बन्ध रखते हैं। कहने का मतलब यह है कि अगर हमारे सवाल या हमारी समस्या शुद्ध रूप से बौद्धिक नहीं है तो वह 'विचार' की श्रेणी में नहीं आएगी। कम से कम उस 'विचार' की जिसे हम फिल्सफा कहते हैं। पर बुद्धि के संदर्भ में सवाल या समस्या का उठना एक तरह से यह महसूस करना है कि कुछ ऐसा है जो ठीक नहीं है या जो नहीं होना चाहिए। लेकिन यह 'ठीक' नहीं लगना या यह महसूस करना कि ऐसा नहीं होना चाहिए, किसी वस्तुस्थिति के बारे में नहीं है जो अपने को ठीक करने के लिए किसी कर्म की अपेक्षा करती है। न यह किसी भावजगत् की बात है जहाँ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे चित्त की जो अवस्था है वह वैसी नहीं होनी चाहिए जैसी है। यही नहीं, वह कुछ ऐसा भी नहीं कि हमारा जो इन्द्रियों से गृहीत जगत् है उसमें ऐसा लगता हो कि भिन्न-भिन्न विषय इस प्रकार से व्यवस्थित नहीं हैं कि उनकी व्यवस्था सुरुचिपूर्ण और सुन्दर लगे। कहने का मतलब यह है कि ये प्रश्न या समस्याएँ न तो कोई धर्म की समस्याएँ हैं और न अध्यात्म की, और न रस की। दूसरी ओर ये उन समस्याओं से भी भिन्न हैं जो सत्य की खोज के संदर्भ में उठती हैं और जहाँ सत्य और असत्य का प्रश्न पैदा होता है। सवाल यह नहीं है कि वस्तुस्थिति क्या है और क्या वह वैसी ही है जैसा हम उसके बारे में सोचते हैं। यह साधारणतः ज्ञान की समस्या कहलाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परन्तु जिन समस्याओं की हम बात कर रहे हैं और जिसे हम 'क्षुद्र विचार' का नाम दे रहे हैं वे समस्याएँ कुछ और ही हैं, हालांकि वे इन सब संदर्भों में पैदा हो सकती हैं। कहने का मतलब यह है कि हालांकि वे समस्याएँ न अध्यात्म की हैं, न ध्यान की, न धर्म की, और न सत्य-असत्य ठहराये जाने वाले ज्ञान की, पर वे इन सब के संदर्भ में उठ सकती हैं। और जब वे उठती हैं तब उनका रूप कुछ भिन्न होता है।

वह रूप क्या है, यह एक तरह से विचार पर विचार करना है। यहाँ विचार किसी अन्य विषय से सम्बन्धित न होकर स्वयं अपने को ही विषय रूप में पाता है और उसी से एक विशेष प्रकार की समस्या उत्पन्न होती है जिसे शुद्ध बौद्धिक समस्या कहा जा सकता है, क्योंकि उसका हल किसी क्रिया के द्वारा या ध्यान के द्वारा या किसी खोज के द्वारा नहीं हो सकता। उसका समाधान खुद बुद्धि ही कर सकती है। बुद्धि ही उसमें उलझती है और बुद्धि ही उसे सुलझा सकती है, और सुलझाने की प्रक्रिया में हो सकता है कि वह किसी नई बौद्धिक समस्या को जन्म दे जो उसे फिर अपने को सुलझाने का आमंत्रण दे। और इस तरह से यह प्रक्रिया अनंत हो सकती है। यह बुद्धि का अपना स्वरूप है जहाँ वह अपनी समस्या खुद उत्पन्न करती है और उसका निराकरण भी खुद ही अपने साधनों से खोजती है।

बुद्धि का यह स्वतंत्र क्षेत्र उसका अपना जगत् है जिसका वह स्वयं निर्माण करती है और जिसमें वह स्वच्छन्द रूप से विचरण करती है। उसे इसी में एक ऐसे शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है जो न किसी विषय-जगत् की वस्तु से प्राप्त होता है जो इन्द्रियों से ग्राह्य हो, न वह किसी ऐसे अन्य विषय से प्राप्त हो सकता है जो किसी अन्य प्रकार से हमें प्राप्त हो। इसका मतलब यह नहीं है कि इन अन्य क्षेत्रों के अपने स्वतंत्र जगत् नहीं हैं और उनका अपना अलग-अलग आनन्द नहीं है। यह तो केवल इस बात की ओर इशारा करता है कि बुद्धि का भी अपना जगत् है और उसकी भी ऐसी निजी समस्याएँ हैं जो किसी अन्य जगत् की नहीं हैं। एक तरह से जिसको हम दार्शनिक कहते हैं वह ऐसा प्राणी होता है जिसकी सहज रुचि और प्रवृत्ति इस जगत् में विचार करने की होती है। परन्तु बुद्धि के पीछे भी चेतना का एक ऐसा स्तर होता है जो बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करता है और उसके द्वारा एक जगत् की संरचना करता है। वही चेतना बुद्धि के अन्य प्रयोग भी करती है जहाँ वह बुद्धि को केवल साधन के रूप में ही स्वीकार करती है, साध्य के रूप में नहीं। ज़्यादातर 'सोचना' इसी तरह का होता है और वह किसी अन्य जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए किया जाता है। अगर वह समस्या सुलझ जाती है, या थोड़ी देर के लिए भी उसका कोई हल निकल आता है तो फिर उसको बुद्धि की ज़रूरत महसूस नहीं होती। असल में उसके लिए बुद्धि का उपयोग केवल वहीं तक सार्थक होता है जहाँ तक वह उसकी समस्याएँ सुलझाने में सहायक हो। इसके परे तो उसको बुद्धि से ज़्यादा बेकार की चीज़ और कुछ नहीं लगती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक तरह से देखें तो यह सब क्षेत्रों का अपना स्वरूप ही है कि वे अन्य सब क्षेत्रों को अपने लिए साधन रूप में ही स्वकार करते हैं, साध्य रूप में नहीं। ऐसा इसलिए भी होता है कि प्रत्येक क्षेत्र का एक अपना 'अहम्' होता है जो उसको उसका वैशिष्ट्य ही प्रदान नहीं करता बल्कि चेतना जब उससे संलग्न होती है या उससे तादात्म्य स्थापित करती है तो वह 'अहम्' एक तरह से उस क्षेत्र का स्वरूप ही धारण कर लेता है। शरीर के साथ तो यह बात सब को साफ नज़र आती है। शरीर मेरा है, इसके गुण-अवगुण मेरे हैं, इसका दुःख-दर्द मेरा है, ऐसा हम देखते और अनुभव करते हैं। पर यह बात अन्य क्षेत्रों के लिए भी उतनी ही सहज रूप में लागू होती है जैसी कि शरीर के बारे में ऐसा साधारणतः सहज रूप में कम लोग ही स्वीकार करते हैं। पर, यह इच्छा मेरी ही है, यह कल्पना मेरी है, यह विचार मेरा है, यह ध्यान मैं कर रहा हूँ, भगवान् के दर्शन मुझे हुए हैं, मोक्ष की अनुभूति मुझे हुई है, ऐसे हज़ारों दृष्टांत दिए जा सकते हैं। और चेतना का हर क्षेत्र में यह 'अहम्' रूप लेना स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे जो अलग-अलग जगत् की सृष्टि होती है और जिनमें चेतना विचरण करती है उनका विस्तृत निरूपण अभी तक शायद ही किसी ने किया हो, न ही इनके आपस के सम्बन्धों की चर्चा की गई है। इस बात पर भी विचार नहीं किया गया है कि चेतना इन अनेक जगतों की संरचना कैसे करती है और इनसे अपने को कैसे अलग करती है! दूसरी तरफ से कहें तो अपने को इन से कैसे हटा लेती है या बाहर कर लेती है!

चेतना की यह शक्ति जिससे वह किसी भी क्षेत्र में प्रवेश कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है और उसी में अपना 'अहम्' देखती है और उस क्षेत्र के जो अपने मूल्य हैं उनकी सार्थकता में ही अपना भी मूल्य मानती है और उनमें निहित पुरुषार्थों या आदर्शों को चरितार्थ करने में ही अपनी सफलता समझती है, और दूसरी ओर, वह किसी भी क्षेत्र से अपने को हटा सकती है या उससे अपने को विलग कर सकती है, ये दोनों शक्तियाँ उसमें इस प्रकार से अन्तर्निहित दिखाई पड़ती हैं कि उनको एक-दूसरे से अलग करना मुश्किल प्रतीत होता है। अधिकतर तो ऐसा लगता है कि एक क्षेत्र से हटकर चेतना किसी अन्य क्षेत्र में ही प्रवेश करती है, पर जब स्वचेतन प्राणी चेतना की इस क्षमता या शक्ति की ओर ध्यान देता है तो वह यह कल्पना करता है कि शायद चेतना की एक ऐसी अंवस्था भी हो सकती है जहाँ वह सब प्रकार के विषय-जगतों से हटकर स्वयं अपने में ही अवस्थित हो जाय या स्वयं अपने ही विशुद्ध रूप में स्थापित हो जाय। ऐसा कुछ-कुछ मनुष्य को सोने की अवस्था में महसूस होता है और नित्य प्रतिदिन जो 'सोने' और 'जागने' की प्रक्रिया है वह कुछ उसी प्रकार मालूम होती है।

चेतना के ऊपर बताए गए दो पहलुओं पर हमारी परम्परा में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। कुछ लोगों ने इसको प्रवृत्ति और निवृत्ति के रूप में समझा तो कुछ औरों ने अव्यक्त और व्यक्त की बात की, और कुछ अन्य संदर्भों में सृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और प्रलय या प्रसार और संवरण की। पर करीब-करीब इनमें से सभी ने चेतना की अपनी ओर पूरी तरह से उन्मुख होकर अपने में सहज रूप से स्थिर होने की अवस्था को ही श्रेष्ठतर माना है। यह कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे कि कोई 'सोने' को सबसे अच्छा समझे और 'जागने' को विकृति मात्र, या कहें तो ऐसी अवस्था जो पूरी तरह से अवांछनीय और असत्य है। पर, जहाँ तक हमारा अनुभव है और जहाँ तक मनुष्य मात्र का अनुभव है उसे तो जागने के बाद सोना और सोने के बाद जागना ही अच्छा लगता है। चिरन्तन 'जागना' या 'सोना' या हमेशा सोना या हमेशा जागना तो बीमारी ही समझी जाएगी। और सोचिए तो इससे बुरा क्या हो सकता है कि आप सो नहीं सकें या सोते ही रहें और कभी जागें ही नहीं। मृत्यु एक तरह से चिरन्तन 'सोने' के समान ही है, पर मनुष्य की चेतना ने उसको कभी भी स्वीकार नहीं किया है। उसने तो उसको इस रूप में ही माना है कि या तो वह किसी अन्य लोक में 'जागने' की प्रक्रिया है या फिर कुछ अन्तराल से इसी लोक में फिर जन्म लेने की। जन्म और मृत्यु कुछ-कुछ जागने और सोने के समान ही लगते हैं और इसीलिए शायद भारतीय चिन्तन में जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की उस सहज रूप में परिकल्पना की गई है जिस सहज रूप में हम रोज़मर्रा 'सोने' और 'जागने' की प्रक्रिया अनुभव करते हैं।

अगर हम अपने इस अनुभव की ओर थोड़ा अधिक ध्यान दें तो बहुत सारी स्वतःसिद्ध सी मानी जाने वाली बातें अजीब सी लगेंगी। 'तमसो मा ज्योतिगमय' या 'मृत्योर्मा अमृतंगमय' कुछ-कुछ ऐसे ही से लगते हैं। आख़िर सोचिए निरन्तर प्रकाश में कौन रहना चाहेगा? जब हम सोना चाहते हैं तो थोड़ा सा भी प्रकाश जो कमरे में होता है तो उसको भी बंद कर देते हैं। स्वयं पृथ्वी अपनी परिक्रमा में आपको ऐसी भी रातें देती है जब प्रकाश कम से कम होता है। रोशनी में तो आदमी सो ही नहीं पाता और दूसरी ओर यह भी उतना ही सच है कि सोने के बाद उठकर जब मनुष्य सूर्योदय की ओर देखता है तो उसके हृदय में जो सहज आश्चर्य, आनन्द और उल्लास जागृत होता है वह सृष्टि के प्रारम्भ जैसा ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार चिरन्तन जीवन, जिसमें मृत्यु हो ही नहीं, उतना ही दुःखकारी लगेगा और इसीलिए हमें अमरत्व की इच्छा उतनी ही बेमानी लगती है जितनी कि एक ऐसे संसार में रहने की जहाँ कभी अंधकार हो ही नहीं और जहाँ केवल चिरन्तन प्रकाश हो। जो लोग चिरन्तन प्रकाश की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि कई देशों में सब से बड़ी सजा यही दी जाती थी कि वे चिरन्तन चौंधिया देने वाले प्रकाश में रहें और पलक भी नहीं झुका सकें। हो सकता है कि ऐसे प्राणी हों जो सदैव प्रकाश या सदैव अंधकार में रहते हों, पर हम जिस प्राणि-जगत् को जानते हैं और जिसके हम सदस्य हैं उसमें तो ऐसा कुछ होना जीवन की मूलभूत संरचना को ही समाप्त कर देना होगा।

कोई कह सकता है कि हम एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं क्योंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि हमारी जो आज की चेतना है वही उन लोगों में भी रहेगी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जो उस लोक के वासी होंगे जहाँ सदैव प्रकाश और अमरत्व होता है। वहाँ की तो चतना ही अलग होगी और उस चेतना में उस प्रकार का वातावरण इस तरह से प्रतीत नहीं होगा जैसा हम सोचते हैं। हो सकता है कि यह बात ठीक हो, परन्तु इस तरह तो सब कुछ चेतना-सापेक्ष हो जाएगा और प्रत्येक चेतना के अपने अलग-अलग आदर्श और आनन्द होंगे। यह काफी हद तक ठीक भी लगता है, पर इस तरह कम से कम जो मनुष्य की चेतना है और जिसके बारे में ही हम थोड़ा-बहुत जानते हैं उसके अपने में निहित पुरुषार्थ की बात उस चेतना को पूर्णरूपेण नकार कर नहीं की जा सकती, हालांकि ऐसा अनेक विचारकों ने किया है। ऐसे लोगों का मत है कि मनुष्य की समस्याओं का निराकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक मनुष्य की चेतना में ही मूलभूत परिवर्तन न हो। आधुनिक युग में श्री अरविन्द ने इस मत का ज़ोरदार प्रतिपादन किया है और अपनी पुस्तक 'दिव्यजीवन' में विस्तार से इसकी आधारभूमि प्रस्तुत की है। पर, अगर यह सच भी हो तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्येतर जो अवस्था है उसकी भी अपनी समस्याएँ होंगी जिनका निराकरण उस लोक से किसी अन्य लोकोत्तर जगत् का प्राणि होने पर ही होगा। पर इस प्रकार का विचार तो अनन्त लोकों की सृष्टि करेगा। एक लोक की मूलभूत समस्या अन्य लोक का सदस्य होने पर ही हल हो सकेगी, परन्तु इससे कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी जहाँ कोई मूलभूत समस्या हो ही नहीं।

इस तरह से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक लोक की दो प्रकार की समस्याएँ होती हैं। एक तो वे जो उस लोक की रचना के मूल में जो संस्थान है, जिसकी वजह से वह लोक है और कोई अन्य लोक नहीं, उससे उत्पन्न होती हैं। और क्योंकि वे उस लोक के 'लोक' होने से ही उत्पन्न होती हैं इसलिए वे उस लोक के प्रत्येक प्राणी के लिए हमेशा इस प्रकार से रहती हैं कि वह उनका कभी भी निराकरण कर ही नहीं सकता, हालांकि उसको यह भ्रम हमेशा ही होता रहता है कि उनका निराकरण सम्भव है। दूसरी ओर वे समस्याएँ हैं जो उस जगत् की अनेकानेक विशिष्ट स्थितियों से उत्पन्न होती हैं और जिनका निराकरण भी हो सकता है। इन दूसरे प्रकार की समस्याओं के निराकरण का अपना एक इतिहास होता है जो इस भावना को जन्म देता है कि उस लोक के प्राणी इन समस्याओं को हल करने में कुछ प्रगति के पथ पर हैं और उनका इस दिशा में कुछ विकास भी हो रहा है, हालांकि यह भी उतना ही सच मालूम होता है कि एक प्रकार की समस्याओं का हल किन्हीं दूसरे प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है। पर एक तरह से प्रगति का रूप ही यह है और इसलिये उसको समस्याओं के अन्त के रूप में देखना ठीक प्रतीत नहीं होता, बल्कि अगर उसे इस तरह से समझें कि वह समस्या और समाधान की एक ऐसी अनन्त शृङ्खला है जो कभी भी समाप्त होने वाली नहीं है तो शायद हम उसके सही रूप को पकड़ पाएंगे। पर जहाँ एक ओर इन समस्याओं का समाधान और नई समस्याओं का उदय कालक्रम में प्रगति की सम्भावनाओं को उत्पन्न करता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर लोक के मूल संस्थान से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ उस लोक के प्राणियों की उस 'चिरन्तन' दशा की ओर इशारा करती हैं जिसकी ओर दृष्टि आकर्षित होते ही ऐसा लगता है कि उस लोक के सभी प्राणी, चाहे वे किसी भी देशकाल में अवस्थित हों, एक ही तरह के हैं और उनमें कोई मूलभूत भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देते हैं वे केवल ऊपरी या सतही हैं और प्रत्येक लोक के प्राणी एक तरफ तो यह सोचकर अपने को आश्वस्त करते हैं कि वे उसी लोक के अन्य प्राणियों से, जो किसी दूसरे देशकाल में थे, से बेहतर हैं और दूसरी ओर वे यह कल्पना भी करते हैं कि कोई ऐसा अन्य लोक होगा जिसमें उनकी समस्याओं का पूरा हल हो जाएगा।

भारतीय परम्परा में अधिकतर इस सम्भावना को इस प्रकार से देखा गया है कि वह एक ऐसी स्थिति है जहाँ दुःख की सम्भावना मात्र भी नहीं है और इसी को मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, निश्रेयस् आदि शब्दों के द्वारा इंगित किया गया है और मनुष्य की चरम साधना भी यही मानी गई है कि वह इस स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करे। महावीर और बुद्ध ऐसे चिन्तन और साधना के पूर्ण प्रतीक माने गए हैं। पर जो हमने कहा है यदि वह ज़रा भी ठीक है तो इसको केवल भ्रान्ति ही मानना पड़ेगा।

दूसरी ओर ऐसा भी कहा जा सकता है कि हमारे ऊपर के सारे कथन एक ऐसी मूल भ्रान्ति पर आश्रित हैं जिसके बारे में यह सोचना भी मुश्किल है कि कोई इतनी बड़ी गलती कैसे कर सकता है! ऐसा कहा जा सकता है कि हमने अनेकानेक वाक्यों का अर्थ अभिधा के रूप में लिया है जबकि उनको लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए। जब कोई यह कहता है कि अंधकार से प्रकाश की ओर जाओ तब उसका अर्थ स्पष्टतः यह नहीं है कि जिसको हम अँधेरा कहते हैं उससे किसी ऐसी जगह जाओ जहाँ हमेशा रोशनी ही रोशनी रहे और अँधेरा कभी न हो। 'अँधेरा' और 'प्रकाश' इस संदर्भ में रूपक के रूप में लिये जाने चाहिएँ। जैसे अज्ञान को भी अंधकार की अवस्था ही माना जाता है और ज्ञान को प्रकाश की। इसी तरह से और बातों को भी समझना चाहिए। इनको उनके साधारण रूढ़ अर्थ में लेना तो उनके साथ अन्याय करना ही होगा।

परन्तु यह बात प्रथम दृष्टि में कितनी ही ठीक लगे थोड़ा अधिक सोचने पर ऐसा लगेगा कि इससे समस्या का कोई विशेष हल नहीं होता। चलो थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि 'अंधकार' और 'प्रकाश' का अर्थ लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए जैसा कि हम तब लेते हैं जब कोई कवि किसी स्त्री के मुख का वर्णन 'चन्द्रमा के समान होने' से करता है। पर क्या ऐसा ही मृत्यु और अमृतत्व या मोक्ष, निश्रेयस् या निर्वाण आदि के बारे में भी माना जाएगा? और अगर इन सब को भी लक्षणा या व्यंजना के रूप में लें तो फिर अध्यात्म-साधना की सारी परम्पराएँ क्या एक विशेष रूप में भ्रममूलक नहीं होंगी? क्योंकि जो लोग उनकी प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करते हैं कम से कम वे तो उनको लक्षणा के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानकर नहीं करते। क्या कोई जैन यह मानने के लिए तैयार होगा कि महावीर सर्वज्ञ नहीं थे और क्या कोई भगवान् बुद्ध का अनुयायी यह मानने को तैयार होगा कि उन्हें निर्वाण प्राप्त होने की बात कुछ-कुछ ऐसी ही है जैसे कि किसी स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कोई उसको 'चन्द्रमुखी' कहकर सम्बोधित करे! यह बात इस संदर्भ में और भी गम्भीर हो जाती है जब आप यह सोचें कि भगवान् बुद्ध सम्यक् सम्बोधि के बाद भी रुग्ण हुए और वृद्ध भी, और मृत्यु को भी प्राप्त हुए। इसी प्रकार भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की बात के संदर्भ में स्वयं भगवान् बुद्ध ने शायद कहा था कि यदि वे सर्वज्ञ हैं तो फिर ऐसे द्वार पर भिक्षा के लिए क्यों जाते हैं जहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा? पर एक प्रकार से समस्या और भी गहरी है, क्योंकि ऐसा कहा गया कि भगवान् बुद्ध ने यह पूछे जाने पर कि क्या वे सर्वज्ञ हैं, कहा था कि वे सर्वज्ञ तो नहीं हैं परन्तु इच्छा करें तो वे जान सकते हैं कि क्या होने वाला है। यदि यह कथा सच है तो इसका अर्थ होगा कि सब कुछ पहले से ही नियत है। तब साधना का कोई अर्थ नहीं रहेगा क्योंकि यह भी नियत होगा कि आप साधना करेंगे या नहीं और साधना से आपको सिद्धि मिलेगी या नहीं। और फिर इस मत और गोशालक या मकखली घोषाल के मत में क्या अन्तर है? यदि सब कुछ नियत है तो मनुष्य की स्वतंत्रता का क्या स्थान होगा?

ऐसा नहीं है कि परम्परा में कुछ इस प्रकार के भेद नहीं किये गए हैं। जैसा कि सब को मालूम है मीमांसकों ने यह कहने की कोशिश की थी कि विधि-वाक्यों के अलावा वेद में जो कुछ भी लिखा है वह सब अर्थवाद के रूप में लेना चाहिए। इसका मतलब यही है कि उसको उसके साधारण अर्थ में न लेकर लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ के रूप में लेना चाहिए। इसके विपरीत ब्रह्मसूत्र की परम्परा को मानने वाले दार्शनिकों ने वेद की प्रामाणिकता को केवल ब्रह्मपरक वाक्यों तक ही सीमित माना और बाकी सब वाक्यों को एक तरह से 'अर्थवाद' के रूप में ही स्वीकार किया। पर जैमिनि के लिए 'स्वर्ग' का अर्थ तो अभिधा के रूप में ही लेना होगा। उसे भी लाक्षणिक मानने से तो उसको प्राप्त कराने वाले यज्ञों की स्थिति बहुत अजीब हो जाएगी। इसी तरह जब ब्रह्म को 'अनन्त' आदि विशेषणों से इंगित किया जाता है तो बादरायण की परम्परा को मानने वाले क्या केवल इसको लाक्षणिक रूप में ही स्वीकार करेंगे? कहने का अर्थ यह है कि क्या अभिधा है और क्या व्यंजना या लक्षणा इसका फैसला करना बहुत मुश्किल है और आसानी से यह कहना कि इसको अभिधा के रूप में लिया जाए और इसको लक्षणा या व्यंजना के रूप में, इसका कोई ऐसा आधार प्रतीत नहीं होता जो सब को मान्य हो।

जो बात हमने अभी-अभी कही है उसके विरोध में एक और बात कही जा सकती है। वह यह है कि हमारा 'सत्' का विचार बहुत कुछ स्थूल इन्द्रिय-प्रत्यक्षात्मक वस्तुओं पर आधारित प्रतीत होता है, चेतना की सूक्ष्म अवस्थाओं पर वह लागू नहीं होता। क्योंकि उनका वर्णन उस प्रकार से किया ही नहीं जा सकता जिस प्रकार से हम साधारणतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इन्द्रियों से ग्रहण होने वाली जगत् की वस्तुओं के बारे में करते हैं। आख़िर जब हम मनुष्य के भाव-जगत् की चर्चा करते हैं, या किसी उत्कृष्ट कलाकृति की बात करते हैं तो उसका वर्णन अभिधा के द्वारा हो ही नहीं सकता। आख़िर यह भी सोचने की बात है कि भाषा का लक्षणात्मक या व्यंजनात्मक प्रयोग क्यों हुआ और उसकी ज़रूरत क्यों पड़ी! इस प्रकार के प्रयोग की आवश्यकता ही इस बात की ओर इशारा करती है कि जो 'सत्' है, या जिसका मनुष्य को चिरन्तन आभास होता रहता है और जिसके बारे में वह दूसरों को बताना चाहता है, वह घट, पट आदि की अभिधात्मक भाषा के द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता। उसके लिए भाषा के एक अन्य प्रकार के प्रयोग की आवश्यकता होती है जो काव्य और साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है और जिसके पठन-पाठन में मनुष्य को अपने अस्तित्व के एक ऐसे स्तर की झलक दिखाई देती है जिसे वह अत्यधिक मूल्यवान् मानता है।

पर अगर हम यह स्वीकार कर भी लें तो भी यह कठिनाई तो उत्पन्न होगी ही कि क्या सारे जगत् के आध्यात्मिक साहित्य को लोग कविता के रूप में मानने के लिए तैयार हो जाएंगे और उसको कविता के रूप में देखने से जो समस्या उत्पन्न होगी वह क्या ऐसा कहने वाले लोगों को स्वीकार होगी?

पर इसके अलावा एक बात और भी कही जा सकती है, जो परम्परा में कही भी गई है, कि वास्तव में बहुत सारे इन संदर्भों में इन लक्षणों को 'तटस्थ लक्षण' के रूप में लेना चाहिए न कि उस वस्तु या विषय या स्थिति के लक्षणों के रूप में जिसकी चर्चा की जा रही है। 'तटस्थ लक्षण' का मतलब यह होता है कि वह स्वयं में उस वस्तु या स्थिति का लक्षण नहीं होने पर भी आपको उसके पास पहुँचने में या उसको जानने में सहायक होता है। इसके अनेकानेक उदाहरण दिये जाते हैं जो साधारण जीवन में कई बार प्रयोग में भी आते हैं। मिसाल के तौर पर, हम अक्सर ऐसा कहते हैं कि जामा-मस्जिद के तीसरे दरवाज़े के सामने जो रेस्टोरां है उसमें खाना बहुत अच्छा मिलता है। अब यहाँ जामा-मस्जिद के तीसरे दरवाज़े के सामने होना उस दुकान का कोई अनिवार्य गुण नहीं है, परन्तु इस प्रकार के वर्णन से आपको उसको ढूँढने में आसानी हो सकती है। इसी को 'अरुन्धती न्याय' भी कहा जाता है। इसका मतलब यह होता है कि अगर किसी को रात को आसमान में कोई तारा देखना हो तो उस तारे को सीधा न दिखाकर पास वाले तारे की सहायता से दिखाया जाये जो ज़्यादा आसानी से दिखाई दे सकता है। कहने का सीधा-सादा मतलब यह है कि इन लक्षणों को लक्षणा या व्यंजना के रूप में न लेकर उनको सीधे अभिधा के रूप में भी लिया जा सकता है लेकिन एक दूसरे प्रकार से, जिससे उस वस्तु या स्थिति के पास पहुँचने में मदद मिलती है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। 'तटस्थ लक्षण' की बात अधिकतर अद्वैत वेदान्तियों ने की है जहाँ ब्रह्म का वास्तव में अपना कोई स्वरूप ही नहीं होता, और इसलिए जिसका अपना कोई स्वतंत्र लक्षण बनाया ही नहीं जा सकता और जो नति, नेति के द्वारा ही इंगित किया जा सकता है। पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जो लोग इस प्रकार के निर्गुण ब्रह्म को नहीं मानते उनके लिए तटस्थ लक्षण का क्या कोई महत्त्व होगा? क्योंकि ब्रह्म को, या जो भी चरम सत् है, उसको सगुण मानते ही उसका ऐसा अपना लक्षण मानना पड़ेगा जो शुद्ध अभिधा के द्वारा इंगित किया जा सके। और अगर हम यह बात ध्यान में रखें कि अद्वैत वेदान्तियों को छोड़कर सभी सगुण सत् की वात करते हैं तो फिर जो वे कहते हैं उसके बारे में तटस्थ लक्षण की बात करना कहाँ तक ठीक होगा?

तटस्थ लक्षण की बात छोड़ भी दें तो भी एक अन्य रूप में समस्या उठाई जा सकती है और यह कहा जा सकता है कि जब हम चरम सत् या चरम पुरुषार्थ की बात करते हैं तब उसका जो भी लक्षण बनाएंगे वह अनिवार्य रूप में इस प्रकार का होगा कि वह अपने से विरोधी गुण को अपने से अलग या बाहर नहीं रखेगा। व्यवहार तक लक्षण का अर्थ माना जाता है। पर जो चरम सत् है चरम पुरुषार्थ है उसको अगर हम इस प्रकार से समझें कि वह अपने से कुछ भी अलग नहीं रखता और उसमें सब कुछ किसी न किसी रूप में समाविष्ट है तो फिर उसका कोई भी लक्षण एक तरह से हमें भ्रम में ही डालेगा जब तक कि हम उसके बारे में जैन दर्शन की अनेकान्त वाली दृष्टि को न अपनाएँ।

परन्तु इस बात के बारे में दो सहज सवाल उठते हैं। एक यह कि जिसको हम चरम सत् कहते हैं उसमें और चरम पुरुषार्थ में कुछ भेद अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि पुरुषार्थ मनुष्य की साधना का लक्ष्य होता है और ऐसा कहना कठिन है कि मनुष्य की साधना का लक्ष्य सब कुछ ही हो सकता है। क्योंकि इस 'सब कुछ' में ऐसा साध्य भी शामिल होगा जो किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं माना जा सकता। कुछ हद तक यह बात चरम सत् के बारे में भी सच मालूम हाती है। क्योंकि उसमें भी जिन चीज़ों को हम असत्य या अशिव या असुन्दर मानते हैं उनका उसमें समावेश सही कैसे लगेगा? पर उसको कम से कम द्वन्द्वातीत तो माना ही जा सकता है और इस अर्थ में उन सब गुणों से परे समझा जा सकता है जिनको मनुष्य की चेतना के संदर्भ में एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं। वास्तव में ऐसा सवाल 'मूल्यों' को लेकर ही उठता है और मूल्य अपने-आप में द्वन्द्वात्मक ही नज़र आते हैं। पर सत् का मूल्य से सम्बन्ध क्या है इसका फैसला आसानी से करना मुश्किल है। लेकिन 'पुरुषार्थ' की बात तो मूल्यों को माने बग़ैर की ही नहीं जा सकती।

दूसरी ओर अनेकान्तता की बात करना भी समस्या से खाली नहीं है। पहली बात तो यही कि आख़िर 'अनेक' का मतलब क्या है? क्या 'अनेक' का मतलब 'अनन्त' है और फिर अनन्त का स्वयं में मतलब क्या होगा? आज के गणित में अनेक प्रकार के अनन्तों की चर्चा है और कई 'अनन्त' तो एक-दूसरे से कम-ज़्यादा भी माने जाते हैं। पर अगर हम गणित की बात छोड़ भी दें तो भी कम से कम जैन दर्शन के संदर्भ में कुछ अन्य समस्याएँ तो उठेंगी ही। पहली तो यह कि जैन दर्शन अनेकात्मक को चरम सत् का ही गुण नहीं मानता, केवल वस्तु का गुण मानता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। लेकिन अगर हरेक वस्तु के अनन्त गुण हैं तो फिर उन वस्तुओं में भेद का आधार क्या होगा? उनको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानने में ही यह बात निहित होगी कि कम से कम कुछ गुण ऐसे हैं जो एक वस्तु में हैं और दूसरी में नहीं। और अगर ऐसा है तो दोनों को समान रूप से अनैकांतिक कहने का क्या अर्थ होगा?

किसी भी तरह से सोचें, घूम-फिरकर हम मानवीय सोच-विचार की सीमाओं पर लौटते दिखाई देते हैं। मनुष्य के सीमित अनुभव के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है और इस बारे में अनेक प्रकार की चर्चा हो सकती है। पर, जैसे ही हम इन सीमाओं का उल्लंघन करते हैं और किसी चरम सत् या चरम पुरुषार्थ की बात करते हैं तो ऐसा लगता है कि यह मनुष्य के विचार के बस के बाहर है। अगर ऐसा है तो फिर हम मनुष्य के बारे में ही क्यों न सोचें और उसकी समस्याओं को एक नई दृष्टि से देखने की कोशिश क्यों न करे? इस दृष्टि में मनुष्य के अनेक आयाम सम्मिलित होंगे और उनके सम्बन्धों की भी चर्चा होगी। यही नहीं, मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध और उसका प्राणि-जगत् से सम्बन्ध भी इस चिन्तन के केन्द्र-बिन्दु होंगे। इसके अलावा मनुष्य में जड़ जगत् से भी सम्बन्ध की बात होगी। कुछ इस प्रकार का चिन्तन उपनिषद् के ऋषियों ने करने की कोशिश की थी। वहाँ अन्नमय कोष और प्राणमय कोष की बात उतनी ही है जितनी विज्ञानमय या आनन्दमय कोष की। पर चिन्तन के इन आयामों को जल्दी ही भुला दिया गया और ऐसी अन्य बातें दर्शन के चिन्तन की केन्द्र बनीं जिनका देहधारी मनुष्य से कम ही लेना-देना था। उन समस्याओं का अपना महत्त्व है, क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केन्द्र-बिन्दु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा। या एक अन्य प्रकार से कहें तो यह दर्शन का अपनी ज़िम्मेदारी निभाना नहीं है। पर यह सहज रूप में भी पूछा जा सकता है कि हम यह ज़िम्मेदारी की बात क्यों करने लगे? क्या दार्शनिक चिन्तन किसी अन्य के प्रति ज़िम्मेदार हो सकता है? वह तो सिर्फ अपनी चिन्तन-प्रक्रिया के प्रति ही वफादार होने की कोशिश करता है। और हमने ऐसी बात अनेक बार पहले भी कही है। पर ज़िम्मेदार होना और चिन्तन-प्रक्रिया का अपने प्रति वफादार होना दो अलग बातें नहीं हैं, और कुछ हद तक हमने यही बात इस लेख में कहने की कोशिश की है। पहले के लेख में भी, जिसका शीर्षक था 'आओ कुछ नया सोचें' इसी तरह की एक अन्य कोशिश की गई थी। अगर आपको इससे कुछ बौद्धिक रसास्वादन हुआ हो तो इस प्रकार के चिन्तन को हम और आगे बढ़ाने की कोशिश कर सकते हैं। बात तो तब है जब आप खुद यह कोशिश करें और कुछ इस तरह की चीज़ 'उन्मीलन' को लिखकर भेजें। आशा है कम से कम 'उन्मीलन' के कुछ पाठक तो ऐसा अवश्य करेंगे।

बी 189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापूनगर, जयपुर-302004.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म-संकट*

मुकुन्द लाठ

पिछले अंक में मैं जानबूझकर थोड़ा पथ से विपथ हो गया था, इस लालच में कि आनृशंस्य की धारणा में प्रवेश का एक विचार को सहारा देते आँगन में खुलता द्वार पा सकूं। कह चुका हूँ कि आनृशंस्य पर जो पते की चर्चा है महाभारत में है और उस चर्चा को ऊहापोह के रास्ते चलती विमर्शमयी चर्चा नहीं कहा जा सकता। उसे चर्चा न कह कर 'उपस्थापन' कहना शायद अधिक उपयुक्त होगा। कथानिष्ठ उपस्थापन। उस उपस्थापन में एक ऊह्य सामग्री है—एक बोध, एक मानव-स्वभाव को आँकती दृष्टि जिसे मैंने 'वासना' शब्द से अभिहित किया था।

वासना की बात को समेटते हुए एक लक्षण सा अगर करूँ तो ऐसा कुछ होगा : वासना मानव के रूप में हममें निहित एक बोध है जिसका प्रकाश साहित्य में हम पा सकते हैं। यह बोध मानव-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख ऐसा बोध है जो हमारे भाव और कर्म के औचित्य को एक अपनी सी दिशा देता है। कह सकते हैं कि उसकी प्रज्ञा है। प्रज्ञा दूसरे की ओर उन्मुख है। धर्म की, इतिकर्त्तव्यता की प्रज्ञा है। मानव-स्वभाव में, कामना में, आशा प्रत्याशा में, स्वप्न में, झांकती हुई मानव-दृष्टि है। यहाँ इसी लोक में दूसरे के बीच रहता हुआ क्या पाना चाहता है, क्या होना चाहता है, हृदय-मन की इन गतियों को तोलती-परखती हुई प्रज्ञा है। बल्कि शायद यों कहना चाहिए कि वासना अपने-आप में प्रज्ञा नहीं है, एक बोध है जो प्रज्ञा का, कर्म के औचित्य का, आधार हो सकता है। महाभारत में आनृशंस्य की धर्मप्रज्ञा के पीछे जो बोध है उसे हम उस अर्थ में वासनानिष्ठ कह सकते हैं जिस अर्थ में मैंने धारणा को अब तक उभारा है।

वासना प्रवृत्ति की प्रज्ञा है। निवृत्ति की नहीं। निवृत्ति का लक्ष्य, परम पुरुषार्थ अगर निश्रेयस या मोक्ष है तो वासना-निष्ठ प्रज्ञा का लक्ष्य अभ्युदय कहा जा सकता है। अभ्युदय अच्छी तरह उठने का, बढ़ने का, उत्तुंग हो जाने का भाव है। यहीं, इसी लोक में, कल्याण-मंगल की सर्वांगीण धारणा है—आनृशंस्य के सर्वांगीण, सर्वतोभद्र होने का भाव, उसमें आए उपसर्ग 'अभि' में पिरोया हुआ है। मैं समझता हूँ कि अगर सही सही देखा जाए तो धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की गति अभ्युदय के आदर्श को ही सामने रखती चलती है, बढ़ती है। चौथा पुरुषार्थ मोक्ष या निश्रेयस, जिसे 'परम' कह दिया जाता है, उसकी गति की दिशा ही कुछ और है। इसीलिए

* गतांक से आगे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

महाभारत की गिनती में, वहाँ आई हुई पुरुषार्थ-चर्चा में धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग और मोक्ष इस चतुर्थ वर्ग, इन दोनों के बीच एक स्पष्ट वर्ग-भेद झलकता है। कहना न होगा कि इस वर्गभेद के पीछे पुरुषार्थ मात्र में निहित प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो विपरीत दिशाओं में ले जाता हुआ दृष्टि-भेद है।

धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग में धर्म का अर्थ और काम के साथ क्या सम्बन्ध है इसको लेकर विमर्श हो सकता है, होना भी चाहिए। पर इनमें एक-दूसरे से अनुविद्ध परस्पर-भाव तो स्पष्ट है। फिर भी कौन गौण? कौन प्रधान? यह प्रश्न उठ सकता है। ऐसा लगता नहीं कि यह विमर्श के साथ उठाया भी गया था। पर कुछ इंगित मिल जाते हैं, कुछ विचार के बिखरे हुए कण। महाभारत के एक प्रसंग में पाण्डवों के बीच विवाद होता है, काम बड़ा है या अर्थ? धर्म इस गिनती में नहीं आता। युधिष्ठिर उसे लाते हैं। यों इन तीनों को अलग करने में भी इनकी त्रिपुटी का बोध बना रहता है। त्रिवर्ग पर पुराने चिन्तन के सूत्र चाहे उखड़े-उखड़े से ही रहे हों, इनके स्वरूप की, इनके सम्बन्ध की या सम्बन्धों की चर्चा चाहे छिन्न सी ही मिलती हो पर यह तो सामने आ ही जाता है कि धर्म, अर्थ, काम की त्रिसूत्री को बाँधने वाला सूत्र धर्म ही है। हम अपनी चर्चा के आरंभ में ही देख आए हैं कि मनुष्य का व्यावर्तक स्वरूप-स्वभाव ही धर्म है। धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता है। 'परिभाषित' करता है।

मनुष्य के धर्म के मूल में दो बातें हैं : एक है स्वातन्त्र्य। मनुष्य के बारे में अगर हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य वह प्राणी है जो पुरुषार्थ साधता है, तो इस पुरुषार्थी स्वरूप का द्वार स्वातन्त्र्य है। पुरुषार्थ सिद्ध नहीं, साध्य होता है और साधक वही हो सकता है जो स्वतन्त्र हो। नहीं तो पुरुषार्थ को साध्य कहने का कं.. अर्थ नहीं बनता। स्वातन्त्र्य जब कुछ साधना चाहता है उसकी इस साध्य-उन्मुखता में ही एक और तत्त्व स्वातन्त्र्य के साथ युगनद्ध है : विवेक। या औचित्य की तलाश। मनुष्य अपनी साध में उचित से आँख नहीं चुरा सकता। चुराता भी है तो इसका भी औचित्य देखने लग जाता है।

और यों हम यह भी देख सकते हैं कि धर्म, अर्थ, काम की त्रिसूत्री में धर्म का प्राधान्य कैसे बनता है। त्रिवर्ग में औचित्य की बात धर्म ही की बात है।

एक प्रश्न की अनी यहाँ सता सकती है। क्या औचित्य मात्र की ही बात धर्म की बात है? क्या विभिन्न पुरुषार्थों का अपना-अपना भिन्न औचित्य नहीं है? मनुष्य की वृत्तियों को अगर हम भाव कर्म और ज्ञान, इस त्रिवर्ग में रखें तो एक मामूली सा विचार ही दिखाई देगा कि भाव कर्म और ज्ञान इन तीनों का एक औचित्य नहीं हो सकता। इनके अपने भिन्न-भिन्न औचित्य हैं। और फिर भाव, कर्म और ज्ञान इन तीन ही वृत्तियों की सीमा क्यों? और वृत्तियाँ क्यों नहीं? जैसे अध्यात्म? यह भी प्रश्न रह ही जाता है कि पुरुषार्थों का वृत्तियों से सम्बन्ध क्या? काम तो कोई भिन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वृत्ति नहीं जान पड़ता। सभी वृत्तियों में काम या कामना का स्थान है। और काम के स्थूल, सूक्ष्म जैसे भेद और दूसरे तारतम्य भी देखे जा सकते हैं। फिर अर्थ की क्या कोई स्वतन्त्र वृत्ति भी है? वृत्तियों का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्ति से है, उसकी एषणा-साधना से है। चाह से। और यों काम से। पर एषणा के स्थूल-सूक्ष्म कई मार्ग हैं या हो सकते हैं और हर मार्ग का अपना अलग औचित्य-विचार होना भी सहज है। और अगर इनका सम्बन्ध पुरुषार्थों से है तो क्या पुरुषार्थ तीन ही हैं? पुरुषार्थ तीन ही —या मोक्ष को मिला कर चार ही— रखने में जो समस्या है उसकी दयाकृष्ण जी ने अपने एक लेख में चर्चा की है। मैं यहाँ नहीं करूँगा। अभी जो प्रश्न उठाए हैं उनको भी यहाँ प्रश्न ही रहने दूँगा। पर उनको मन में रखते हुए भी अपनी बात आगे बढ़ाने के लिए समाधान के रास्ते एक युक्ति देता हूँ। धर्म का सम्बन्ध कर्म से है। मनुष्य के एक-दूसरे के प्रति किये गए कर्म से, चाहे कर्म व्यष्टि-भाव से किया गया हो या समष्टि-भाव से। व्यष्टियों और समष्टियों का अन्य व्यष्टियों और समष्टियों के प्रति जो व्यवहार होता है, कर्म होता है, धर्म उसी की इतिकर्त्तव्यता के औचित्य का विधान करता है। धर्मशास्त्रों में धर्म के कुछ और भी इससे भिन्न अर्थ दिख सकते हैं, पर प्रधानता इसी की है और हम कह सकते हैं कि तत्त्वतः भी धर्म का क्षेत्र व्यवहार है : मनुष्य का परस्पर व्यवहार। दूसरे क्षेत्र अगर सचमुच उभरते हों तो व्यवहार के आनुषंगिक के रूप में देखे जा सकते हैं। जैसे संस्कार-धर्म, जिसकी हम पहले चर्चा कर आए हैं। संस्कार मनुष्य को व्यवहार-योग्य मनुष्य बनाता है। दूसरे जो धर्म हैं, जैसे आगम धर्म हैं, उनका सम्बन्ध मोक्ष या मोक्ष-सदृश भक्ति से है। वे धर्म, अर्थ, काम की त्रिपुटी से बाहर हैं। उनका औचित्य-मार्ग भिन्न है। व्यवहार से जुड़े हुए कर्म के जिस औचित्य का हम धर्म की धारणा के सहारे विचार और विधान करते हैं अर्थ और काम उस कर्म-भूमि की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। उस कर्मभूमि का निर्माण करते हैं। यों धर्म, अर्थ, काम एक ही औचित्य-सूत्र में बंधे देखे जा सकते हैं। इतिकर्त्तव्यता के औचित्य सूत्र से। अर्थ वह व्यवस्था है जो समाज को चलाती चलती है, जिस व्यवस्था के भीतर मनुष्य कर्मशील होता है। राजनीति या राजधर्म, कानून (जिसे धर्मशास्त्रों में व्यवहार-धर्म कहा गया है) और वार्ता (जिसे आज हिन्दी में अर्थ और अंगरेज़ी में 'इकोनॉमी' कहा जाता है) ये सभी पुराने 'अर्थ' शब्द के संकेत में आ जाते हैं। त्रिवर्ग में काम का अर्थ कैसे लिया जाए यह प्रश्न हो सकता है। इस प्रसंग में उसे धर्म-विरुद्ध काम के अर्थ में ही लेना ठीक होगा। अपने और अपनों के लिए सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और व्यवहार में लब्ध ऐसी ही सम्पदा की इच्छा काम है। मर्यादा मानते हुए क़ामशास्त्र का काम भी इसमें आ जाता है। पर काम वहीं तक सीमित नहीं।

पर अगर हम वासना की धारणा को समझने बैठे हैं तो एक बात का सूत्र फिर भी यहाँ पकड़ना ही पड़ेगा। वासना को हमने त्रिवर्ग से ही नहीं, श्रेयस् और प्रेयस्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इन दोनों से भी जोड़ा है। प्रेयस् धर्म-विरुद्ध काम तक सीमित नहीं हो सकता। और यों भी जब हमने यह कहा कि वासना धर्म-अर्थ-काम इस त्रिपुटी से जुड़ी है, या दूसरे शब्दों में मनुष्य का स्वभाव ही इन तीनों की एक परस्पर-विद्ध त्रिसूत्री बनाए रखता है तो यहाँ वासना के इस सम्बन्ध में हम काम को केवल धर्म-काम के रूप में नहीं देख सकते। काम की भूमि-यहाँ धर्म से 'बंधी' नहीं। स्वतन्त्र है।

बात अधूरी, विसंगत और अटपटी सी लग सकती है, कुछ और खोलना चाहता हूँ। सच पूछिए तो पुरुषार्थ के बीज दो ही हैं : धर्म और काम। इसी को श्रेयस् और प्रेयस् भी कह सकते हैं। त्रिवर्ग की मध्यम कोटि, अर्थ सचमुच ही बीच की कोटि है। वाहन है, साधन है, धर्म और काम को मनुष्य-लोक में रूप देता है।

हम यहाँ धर्म, अर्थ, काम को जिस सन्दर्भ में देख रहे हैं वह मनुष्य के 'व्यवहार' का सन्दर्भ है। पर धर्म और काम को 'औचित्य' और 'इच्छा' के व्यापक रूप में लें तो दिख जाता है कि 'इच्छा' व्यवहार तक सीमित नहीं। ज्ञान-काम को लीजिये या विचारकाम या रचनाकाम को। इनकी साधना के मर्म में ही औचित्य की साधना यों समाई रहती है कि वह औचित्य कोई बाहर से थोपा गया विधान नहीं होता, न कोई बाहर का विधान होता है कि ज्ञान, रचना, विचार ऐसे न हों कि समाज और लोक को क्षति पहुँचे (ऐसा औचित्य तो धर्म, अर्थ, काम की 'व्यवहार' परिधि में ही आ जायेगा)। पर हमारी हर साध, हर साधना का एक अंतरंग औचित्य भी होता है —या एक नहीं अनेक होते हैं— जो उसकी अपनी गति को तोलता, परखता, मर्यादा देता चलता है। हर साधना में क्या तुच्छ है, अ-तत् है, निराकरणीय है, इसकी भी साध होती है। क्या ज्ञान नहीं है, चाहे लगता हो, क्या रचना नहीं है, विचार नहीं है, औचित्य-बोध ही इधर उंगली उठाता है। पर बात को व्यवहार तक बांधे रक्खें तो भी धर्म और काम का सम्बन्ध क्या हो? प्रश्न के कई तरह से उत्तर दिये जा सकते हैं और दिये गए हैं। आमतौर पर धर्म के पलड़े को ही भारी रखा जाता है। एक गंभीर प्रधान-गौण भाव इस सम्बन्ध में विमर्श और विधान दोनों में रहता है जो धर्म को ही प्रधान रखता है। आनृशंस्य काम के पलड़े को भी भारी कर देता है। इस उदार प्रज्ञा के साथ कि मनुष्य का स्वभाव ही काम की भूमि पर टिका हुआ है और यह भूमि कोई आसुरी भूमि नहीं है, न शत्रु-देश की भूमि ही है। परम धर्म को आनृशंस्य कहना जिस प्रज्ञा की प्रसूति है वह प्रज्ञा धर्म क्या है? इस प्रश्न को किसी अटल, ध्रुव या शाश्वत तत्त्व विशेष से नहीं बाँध देती। काम के ही अन्तरंग औचित्य से उसे कसना चाहती है। पग पग पर परिस्थिति परिस्थिति में तोलती चलती है। तोलते हुए मनुष्य के धर्म-और-काम-मय स्वभाव का ध्यान रखती है। और यहीं वासना की धारणा आनृशंस्य को समझने में काम आ सकती है। आनृशंस्य अगर परम धर्म होते हुए भी किसी नित्य परमार्थ में स्थित और यों स्थिर धर्म नहीं है तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसमें एक गति होनी चाहिए। ऐसी गति जो मनुष्य के साधारण बदलते व्यवहार के साथ-साथ डग भर सके।

मनुष्य क्या है? उसका व्यवहार क्या है? व्यवहार में क्या साधता है? वासना में हमें इन प्रश्नों का एक शिथिल सा, ध्वनिमय सा, अस्पष्ट और इसीलिए गतिशील रूप सा उभरता दिखता है। रूप अस्पष्ट ही नहीं बड़ा जटिल सा उभरता लगता है। पर इस रूप में मनुष्य प्रवृत्ति-प्रधान, व्यवहार-प्रधान, दूसरों के साथ कई परस्पर भावों में प्राणी के रूप में सामने आता है। वासना की प्रज्ञा या दृष्टि आनृशंस्य की परख में, निर्णय में, उसके काम में हाथ बटाती है। यही हम महाभारत के उदाहरणों से देखेंगे।

पर उदाहरणों में प्रवेश करने से पहले आनृशंस्य का एक और पक्ष आगे लाना चाहता हूँ। हमने देखा था कि महाभारत में एक और परम धर्म की चर्चा है : अहिंसा परमो धर्मः। आनृशंस्य का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ लोग जिन्होंने आनृशंस्य की ओर ध्यान भी दिया है वे इसे अहिंसा का ही रूपभेद या नामभेद कह देते दिखते हैं। पर मैं समझता हूँ कि अहिंसा या आनृशंस्य का सम्बन्ध गहरा होते हुए भी दोनों का भेद भी कम गहरा नहीं है।

पहली बात तो यह है कि अहिंसा का सम्बन्ध हमारे चिन्तन में निवृत्ति के साथ जुड़ा है प्रवृत्ति के साथ नहीं। अहिंसा संन्यासी का, मुमुक्षु का, धर्म है, गृहस्थ का, व्यवहारी का धर्म नहीं। उसका सम्बन्ध त्रिवर्ग से नहीं, चौथे वर्ग मोक्ष से है। वर्तमान युग में गाँधीजी ने उसके अर्थ को विस्तार दिया था, व्यवहार और त्रिवर्ग के साथ जोड़ा था। उसे नीति में, राजनीति में उतार लाए थे। महाभारत का आनृशंस्य भी अपनी तरह से यही करता है। पर महाभारत देखें तो यह भी प्रकट है कि गाँधीजी के आनृशंस्य में और महाभारत से उभरते आनृशंस्य में अन्तर है। तुलना में पैठने की यहाँ चेष्टा नहीं करूँगा। पर एक बात कह दूँ : महाभारत के आनृशंस्य में हिंसा या युद्ध से सर्वथा विरति की बात नहीं आती। अभी तक किसी जिज्ञासु ने गाँधीजी और महाभारत के बीच आनृशंस्य की दृष्टि से साम्य-वैषम्य पर विचार नहीं किया है। शायद यह प्रश्न ही नहीं उठा है। पर प्रश्न उठा कर विचार किया जाए तो जिज्ञासा का अच्छा विषय हो सकता है।

निवृत्ति के साथ जुड़ी होने के कारण अहिंसा की पुरानी धारणा के स्वरूप में ही एक बड़ा 'नेति' का भाव निहित है। अहिंसा कहती है कि जीव-हत्या न करो। पर क्यों न करो? इसका उत्तर है कि जीव-हत्या मोक्ष के मार्ग में बाधक है। मुनियों की पुरानी कहानियों में —जो महाभारत में भी बहुत आई हैं— उनमें हम पाते हैं कि अहिंसा का साधक मुनि जीव-हत्या से विरत होता हुआ मनुष्यों का संग त्याग देता है, वन में स्वतः वृक्षों से झड़ कर गिरे फल खाता है, पर्णभुक् हो जाता है और अन्त में वायुभुक्। अहिंसा उसे सर्वथा निःसंग कर देती है। केवली!

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर जीव के प्रति यह अहिंस्र भाव यों नेति-निष्ठ और जीव-विमुख न होकर जीव-उन्मुख, जीवन में प्रवृत्त भी हो सकता है। प्राण के प्रति श्रद्धा प्राण के अभ्युदय की कामना का भी आधार बन सकती है। पर प्राण के अभ्युदय की कामना को एक विचित्र ग्रंथि का सामना करना ही पड़ता है। प्राणों में तारतम्य है। और तारतम्य ही नहीं प्राण प्राण पर ही जीता है—'जीवो जीवस्य भोजनम्'। इसीलिए अहिंसक मुनि वायुभुक् हो जाना चाहता है। पर आनृशंस्य का साधक क्या करे?

एक उत्तर तो आनृशंस्य शब्द में ही निहित है—नृशंसता का निषेध। 'नृशंसता' का अर्थ सामान्य भाव से 'क्रूरता' लिया जा सकता है। 'आनृशंस्य' होगा 'अक्रौर्य'। पर 'नृंशस्य' शब्द में 'नृ' समाया हुआ है—अर्थात् 'नर' या 'पुरुष', 'मनुष्य'। संकेत यही उभरता है : 'मनुष्य' के प्रति 'अक्रौर्य'। अक्रौर्य के सामान्य अर्थ में मनुष्य के विशेष स्थान की ध्वनि स्पष्ट है। आनृशंस्य का तात्पर्य ठहरा 'अक्रौर्य, विशेष कर मनुष्य के प्रति'। इसे चाहें तो एक प्रकार के मानवतावाद के रूप में भी समझ सकते हैं। यह आधुनिक ध्वनि भी उस प्राचीन शब्द में है।

पर मनुष्य को यों विशेष स्थान देने के भाव में जीव या प्राण के प्रति एक तारतम्य दृष्टि की सूचना भी है, जिसमें 'जीवो जीवस्य भोजनम्' की स्वीकृति झलकती लगती है। यह इंगित भी झलकता है कि मनुष्य के लिए अन्य जीवों पर क्रौर्य वरणीय न हो, स्वीकार्य है। तात्पर्य यह है कि प्राणों का अभ्युदय मनुष्य का अभ्युदय है।

आप कह सकते हैं कि आनृशंस्य का अर्थ निषेध-परक है : अभाव को समोए है —क्रौर्य का अभाव— किसी भाव को नहीं। फिर यह अभ्युदय कहाँ से आ गया?

पर शब्दों के अर्थ केवल व्युत्पत्ति से नहीं बनते, प्रयोग से उभरते हैं। हम आनृशंस्य के प्रयोगों को देखेंगे तो यह बात और खुल कर सामने आएगी। महाभारत के चरित्र यहाँ अवधेय हैं, और मैं विशेषकर कृष्ण का नाम लूँगा, हालांकि युधिष्ठर को भी गिनाया जा सकता है : आनृशंस्य का परम धर्म के रूप में प्रतिपादन उन्हीं के मुख से हुआ है—ये चरित्र आनृशंस्य शब्द का प्रयोग ही नहीं करते उसे जीवन में ढालने का प्रयास करते हैं। दूसरे के प्रति अपनी प्रवृत्ति का, कर्म का, आधार बनाते हैं। और यहीं वासना की धारणा बात के मर्म में उतरने की सीढ़ी बन सकती है। कहना न होगा कि महाभारत में इस प्रत्यय का कोई प्रयोग नहीं, पर समझने के काम में हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। जिस प्राणी का, मनुष्य का, अभ्युदय साधना है या कर्म-दृष्टि में रखना है उसका स्वभाव, उसकी इच्छा, कामना, एषणा, श्रेयस्-प्रेयस की विचित्र भाव से युग-नद्ध प्रवृत्ति जाने बिना उसका अभ्युदय कैसे साधा जा सकता है? जिसका अभ्युदय ध्यान में है उसका स्वरूप भी तो ध्यान में रहना चाहिये! माना कि यह स्वभाव, यह स्वरूप जटिल है—इसे नाप-तोल कर इसका पक्का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेखा-जोखा नहीं लिया जा सकता। जटिल ही नहीं विरोधी सूत्रों के गुंफ से बना है—विपरीत दिशाओं में एक साथ चलना चाहता है। इन सारी सीमाओं को, बल्कि यों कहना चाहिए कि इस सारे बिखराव को ध्यान में रखते हुए भी मनुष्य का एक स्वभाव-चित्र हमारे ध्यान में रहता है। वासना उसी धुन्ध को समेटती हुई धारणा है जिसमें हमें मनुष्य की एक झाँई दिखाई देती है।

वासना के प्रत्यय का कहीं परोक्ष-प्रच्छन्न प्रकाश है तो कथा-साहित्य में है, जैसा हमने पिछले लेख में देखा। अब आइए देखते हैं कि कथा के गर्भ में ही महाभारतकार ने वासना को प्रच्छन्न भाव से समोते हुए उसका आनृशंस्य को प्रकट करने में कैसा प्रयोग किया है। किस किस तरह से प्रयोग किया है।

यक्ष प्रश्न वाले जिस आख्यान में युधिष्ठिर 'परम धर्म क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर में 'आनृशंस्य परो धर्मः' कहते हैं वहीं हमें आनृशंस्य का एक छोटा सा उदाहरण भी मिल जाता है।

युधिष्ठिर के उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष कहता है "तुम जानकार हो। अच्छे उत्तर दिए। चलो, अपने किसी एक भाई के प्राण वापस ले लो'। युधिष्ठिर कहते हैं, 'माद्री-पुत्र नकुल को जिला दो।' यक्ष कहता है कि 'वह तुम्हारे किस काम आएगा?, तुम्हारा सगा भाई भी नहीं है। अर्जुन या भीम को लो, दोनों में से एक भी तुम्हें बड़ी से बड़ी प्रभुता दिला सकते हैं।' पर युधिष्ठिर अपने धर्म पर अड़े रहते हैं। कहते हैं उन्हें नकुल ही चाहिए। क्योंकि वे आनृशंस्य को धर्म का परमार्थ मानते हैं, और अपना स्वधर्म मानते हैं, जिससे वे डिगना नहीं चाहते : आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम्। आनृशंस्यं चीकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ धर्मशील सदा राजा इति मां मानवा विदुः। स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ माद्री का वंश चलना चाहिए। कुन्ती ने माद्री को वचन दिया था कि उसके पुत्रों की रक्षा करेगी। वचन को भुलाया नहीं जा सकता। और युधिष्ठिर कहते हैं कि उनके लिए कुन्ती और माद्री बराबर हैं। इस उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष, जो स्वयं धर्म ही थे, सभी भाइयों को जिला देते हैं।

उत्तर कंठतः ही आनृशंस्य का उत्तर था। युधिष्ठिर उसे अपना स्वधर्म कहते हैं। क्या था उसका यहां रूप? एक तो देखने की बात यह है कि युधिष्ठिर ने परार्थ भाव में स्थित होकर उत्तर दिया था। माद्री जीवित नहीं थी पर उसके लिए क्या करना चाहिए यह युधिष्ठिर के मन में सप्राण था। माद्री यही चाहती कि उसका भी वंश चले। पुत्रैषणा एक मानव-सुलभ एषणा है—या कम से कम उस समाज में, उस आवह में थी जिसमें युधिष्ठिर ने यह उत्तर दिया। इस उत्तर के परार्थ-भाव में इस एषणा का बोध, इसकी स्वीकृति, उनकी धर्मप्रज्ञा में स्पंदित थी। इसी धर्म-प्रज्ञा को महाभारत में आनृशंस्य का नाम दिया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ परखने की एक बात यह भी है कि युधिष्ठिर ने जो परार्थ भाव दिखाया उसे आत्मवत् सर्व भूतेषु की कोटि में ठीक ठीक नहीं रखा जा सकता। आत्मवत् की धारणा में अपने-आप को, अपनी इच्छा, एषणा, कामना, पुरुषार्थ, इनको कसौटी मान कर पर की ओर उन्मुख होने का उपदेश है। इसे सही-सही परार्थ नहीं कहा जा सकता। कहें भी तो स्वार्थ-भाव में स्थित परार्थ-भाव ही कहा जा सकता है। युधिष्ठिर का परार्थ भाव ऐसा नहीं था। युधिष्ठिर के स्वभाव में वंश-रक्षा जैसी एषणा थी भी तो गौण ही थी। वे अपनी एषणा के आधार पर माद्री की एषणा को नहीं तोल रहे थे। वे धर्म-प्राण थे, इतिकर्त्तव्यता के औचित्य को तोलना चाह रहे थे। औचित्य को उन्होंने अपनी एषणा से नहीं, माद्री की एषणा से तोला। और माद्री की एषणा क्या हो सकती है, या ऐसी अवस्था में किसी भी पर की एषणा को कैसे तोला जा सकता है— इसकी कसौटी हमें वासना ही देती है। युधिष्ठिर ने अपने अन्दर झाँक कर नहीं पर जिसे हमने वासना कहा है उसे अनकहे ही ध्यान में रखते हुए औचित्य का निर्णय किया। वासना परार्थ भाव की साधना में सहायक हुई। यह इंगित देते हुए कि मनुष्य स्वभाव से क्या चाह सकता है।

दूसरे, परम धर्म में 'परम' 'परमार्थ' का भी सूचक है। धर्म का ध्रुव, अडिग परमार्थ। जिसमें व्यवहार का लचीलापन नहीं होता। व्यवहार की विभिन्न अवस्थाओं के सूक्ष्म, पर-तात्त्विक भेदों में विवेक करने की दृष्टि नहीं होती। यह आनृशंस्य की धारणा में है। आनृशंस्य परम धर्म होते हुए भी, महाभारत के ही शब्दों में कहें तो यह भांपने की प्रेरणा रखता है कि 'ऐसा भी कभी होता है जब धर्म अधर्म होता है और अधर्म धर्म।' अर्थात् धर्म और अधर्म का भेद किसी अटल धर्म की दृष्टि से नहीं आँका जा सकता क्योंकि धर्म कोई **सामान्य** तत्त्व ही नहीं है, परिस्थिति **विशेष** के प्रति भी सजग रहता है।

एक और कहानी लीजिये। कहानी के नायक कृष्ण हैं और उन्हीं की आनृशंस्य धारणा यहाँ प्रकट होती है। युधिष्ठिर के आनृशंस्य से इसमें एक भेद है, व्यवहार दृष्टि की गहराई है। कहानी प्रसिद्ध है, आप भी इससे परिचित होंगे। पर अपनी विवेचना के लिए दोहराता हूँ। कर्ण-पर्व की घटना है। युधिष्ठिर अर्जुन पर कुपित हैं। कर्ण से उनका युद्ध हुआ था जिसमें वे बुरी तरह हार कर घायल हो गए थे। बस कर्ण ने उनके प्राण नहीं लिए। क्रोध में, कुंठा में, वे अर्जुन को तीखी बातें कहते हैं : "क्या हुआ तुम्हें? बातें तो बहुत करते थे पर कर्ण का कुछ बिगाड़ नहीं सके। तुमसे से तो भीम अच्छा है। नहीं लड़ा जाता तो अपना गांडीव कृष्ण को दे दो, ये कर्ण को देख लेंगे।" सुनते ही अर्जुन खौल उठे। तलवार उठाई और युधिष्ठिर की ओर लपके। कृष्ण हँस पड़े—यह क्या? तलवार क्यों उठा ली? यहाँ कौन है जिससे लड़ोगे? तुम तो युधिष्ठिर से मिलने आए थे, वे तो अब ठीक ही हैं। तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए, रोष क्यों? अर्जुन क्रोध में काँपते हुए बोले कि उन्होंने मन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ही मन एक प्रतिज्ञा की थी कि कोई मुझसे अगर कहेगा कि गांडीव किसी और को दे दो तो मैं उसका सिर काट गिराऊँगा। मैं धर्म से डरने वाले इस राजा को छोड़ नहीं सकता। इनको मारूँगा, वचन पूरा करूँगा। सत्य का ऋण चुकाऊँगा। पर तुम कहो मुझे क्या करना चाहिए। तुम जानकार हो, तुम्हारा कहा करूँगा।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—अर्जुन तुमने बड़े बूढ़ों की सेवा नहीं की ईसलिए धर्म के विभाग का ज्ञान तुम्हें नहीं है। तुम धर्मों का तारतम्य नहीं समझते। कब कौन-सा धर्म धर्म है इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है।

यों धर्म-विभाग की धारणा को उठाते हुए कृष्ण एक और तत्त्व सामने रखते हैं जो धर्म-विभाग का, कौन-सा धर्म कब उचित है इस विवेक का आधार बन सकता है। वे कहते हैं कि मेरे लिए सबसे बड़ी बात प्राणियों का अवध है : प्राणिनाम् अवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम। चाहे झूठ बोलना भी पड़ जाये, पर हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए : अनृतं तु भवेद्वाच्यं न च हिंस्यात्कथंचन। फिर युधिष्ठिर तुम्हारे बड़े भाई हैं, तुमसे युद्ध नहीं कर रहे हैं, उनका वध तुम कैसे करोगे? यों अर्जुन को अपनी तरह से अ-नृशंस भाव की महिमा बताते हुए अहंकार से हठात् जागे क्रोध को धर्म, शील, औचित्य के दूसरे संस्कार जगा कर शान्त करते हुए कृष्ण कहते हैं कि तुमने कभी बचपन की नासमझी में कोई प्रतिज्ञा-वचन मन में ठान भी लिया था तो उसको अब इस परिस्थिति में पालन करना मूर्खता होगी। अधर्म होगा। धर्म-विभाग की बात को बढ़ाते हुए फिर कृष्ण कहते हैं कि धर्म एक नहीं अनेक हैं और धर्मों की गति सूक्ष्म होती है, असंप्रधार्य होती है — कौन सा धर्म कब बरता जाये, यह पकड़ में नहीं आता। सत्य ही की बात को लो। सत्य बोलना अच्छी बात है, सत्य से बड़ा धर्म नहीं। पर तत्त्व की दृष्टि से यह जानना कठिन है कि किसने सत्य का उचित अनुष्ठान किया। क्योंकि कभी ऐसा भी होता है कि सत्य बोलना अनुचित होता है, झूठ ही उचित होता है।

फिर कृष्ण लोक-व्यवहार से कुछ ऐसी सामान्य परिस्थितियों का उदाहरण देते हैं जब झूठ बोलना अनुचित नहीं—जब सब कुछ लुट रहा हो, प्राण का संकट हो, विवाद की बात हो, आदि। विवाद को इस गिनती में क्यों रक्खा है समझ में नहीं आया पर अभिप्राय यही जान पड़ता है कि सत्य अपने आप में परम नहीं. उसके बोले या न बोले जाने से जो सम्पूर्ण परिस्थिति बनती है उस परिस्थिति के श्रेयस् को ध्यान में रख कर ही सत्य का औचित्य तोला जा सकता है। और कृष्ण की दृष्टि में पूरी परिस्थिति के श्रेयस् का तोल अ-वध से करना चाहिये—आनृशंस्य से—दूसरे शब्दों में, प्राण या जीवन के अभ्युदय से।

कृष्ण अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दो उपाख्यान सुनाते हैं। दोनों का आशय प्राण-रक्षा को श्रेष्ठ बताना है। पहली कहानी में इतना दम नहीं। स्वातन्त्र्य से किये गये किसी कर्म की परीक्षा नहीं की गई है। अनजाने, अनचाहे ही प्राणों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की रक्षा के अनुकूल एक घटना घट जाती है। बलाक नाम का एक व्याध था जो न चाहते हुए भी कुटुम्ब-पालन के निमित्त शिकार किया करता था। अन्धे माता-पिता और स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण करता था। एक दिन उसे कोई आखेट-योग्य पशु नहीं मिला। उसने पानी पीते हुए एक प्राणी को देखा जो नाक से ही आँखों का काम लेता था। ऐसा प्राणी उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसी का व्याध ने शिकार किया। उस प्राणी के मरते ही आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। देवता जय-जयकार करने लगे। वह प्राणी एक ऐसा जीव था जिसने तपस्या से यह सिद्धि चाही कि वह जीव मात्र को संसार से मिटा सके। ब्रह्मा ने उसे तपस्या का फल तो दिया। उसे वर दिया। पर साथ ही अन्धा कर दिया। चाहे संयोग से ही सही उसे मारकर व्याध ने जीव मात्र का उपकार किया। धर्म किया। वह स्वर्ग को प्राप्त हुआ। कृष्ण कहते हैं कि यों धर्म की गति दुर्ज्ञेय है।

दूसरी कहानी सत्य के औचित्य की है। कौशिक नाम का एक तपस्वी था। गाँव से दूर नदियों के संगम पर रहता था। उसका प्रण था कि मैं सत्य ही बोलूँगा। सत्यवादी कहलाता भी था। एक दिन कुछ लोग उसी वन में आ छुपे जहाँ वह रहता था। उनके पीछे दस्यु थे। उनको मारने के लिए ढूँढते हुए आये। उन्होंने कौशिक से पूछा, सच सच बताइये हम जिनके पीछे हैं वे लोग कहाँ गये। कौशिक ने वन में उस झुरमुट की ओर इशारा कर दिया जहाँ लोग भाग कर छुपे थे। दस्युओं ने उनका वध कर दिया। कौशिक धर्म-विभाग को नहीं समझता था, धर्मों की सूक्ष्म गति की उसे कोई पकड़ नहीं थी। उसे नरक भोगना पड़ा। अपनी धर्म-प्रज्ञा के तत्त्व को कुछ विवरण के रास्ते और खोलते हुए कृष्ण कहते हैं कि धर्म-विभाग के मर्म का ज्ञान इसके जानकार ज्ञान-वृद्धों से ही मिल सकता है। इसका ब्यौरेवार लक्षण (लक्षणोद्देशः) थोड़ा सा ही दिया जा सकता है क्योंकि इसका तत्त्व तर्क से पाना दुष्कर है। लक्षण देते हुए वे कहते हैं, "कुछ लोग श्रुति को धर्म कहते हैं : यह मानते हैं कि धर्म का वहाँ विधान कर दिया गया है। इस मत का कृष्ण विरोध नहीं करते, पर कहते हैं कि धर्म का पूरा विधान नहीं किया जा सकता : न हि सर्वं विधीयते। फिर धर्म क्या है? जो प्राणियों का प्रभव करे वह धर्म है। इसीके लिए धर्म का विधान किया गया है। धर्म धारण करता है, जो प्रजा का धारण करे वह धर्म है।

प्राणियों का प्रभव। यह क्या है, इसमें कृष्ण यहाँ नहीं जाते। पर स्पष्ट ही यह अवध जैसी नेति की बात नहीं। न केवल प्राण-रक्षा या प्राण-दान की बात है। इनसे कुछ अधिक ही है। प्रभव का आशय है 'प्रकृष्ट होना' या 'प्रभूत होना'। दोनों का तात्पर्य 'अभ्युदय' की ओर इंगित करता है। धर्म वह है जो प्राणियों का, विशेष कर प्राणियों के सिरमौर मनुष्य का, अभ्युदय करे।

यही आनृशंस्य है। हालांकि कृष्ण ने 'आनृशंस्य' शब्द का यहाँ प्रयोग नहीं किया है, किन्तु 'अवध' का प्रयोग किया है, जिसका वही इंगित जान पड़ता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

महाभारत की इस कहानी में आनृशंस्य का कोई व्यवस्थित संगत लक्षण न सही पर धारणा के कुछ और पक्ष उभर कर आते हैं। व्यवस्थित लक्षण और श्रुति की तरह विधान—यह तो कृष्ण के मत में संभव ही नहीं है। हालांकि धर्म के जो विधान हैं, जिनका श्रुति में प्रवचन किया गया है : सत्य बोलो, हिंसा न करो, आदि, उनका कृष्ण स्पष्ट विरोध भी नहीं करते, यही कहते हैं कि धर्म का पूरा विधान नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म एक प्रज्ञा है, जिसका मर्म सीखा जा सकता है तो प्रज्ञाशील वृद्धों से, जिन्होंने इसे प्रयोग में साधा है।

इस कहानी में कुछ-कुछ उन कहानियों की ध्वनि भी आती है जिनमें भोज या दूसरे न्यायशील राजा किसी झगड़े का न्याय से निबटारा करते दिखाये जाते हैं। इस कहानी की तरह भोज आदि के न्याय की कहानियों में भी हम पूरी बात को तोलते हुए निर्णय देने वाली प्रज्ञा की बानगी पाते हैं, जहाँ निर्णय को किसी एक तत्त्व या विधान के घेरे में नहीं बाँधा जा सकता। एक बड़ा अन्तर यह है कि यहाँ इस कहानी में उस प्रज्ञा को धर्म के रूप में सजग विचार के साथ सामने रखा गया है।

यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि अगर कहानी न हो तो प्रज्ञा का सही उद्घाटन भी संभव न होगा। कृष्ण परिस्थिति को भाँपते हुए अर्जुन के स्वभाव में झाँकते हुए अपना निर्णय देते हैं।

अब तक हमने कृष्ण के धर्म-विचार की बात की, उनके निर्णय की नहीं।

कृष्ण की धर्म-विभाग और प्राणियों की प्रभव-कामना की बात सुनकर अर्जुन पूछते हैं, मगर मैं क्या करूँ? मेरे वचन का क्या होगा? युधिष्ठिर तो अवध्य हैं, तुमने ठीक ही कहा, धर्म की अच्छी व्याख्या की, पर मेरे लिए अब क्या रास्ता है? मैंने प्रतिज्ञा की थी, पूरी तो करनी पड़ेगी, चाहे फिर मैं भी जीव-लोक में रहने लायक न रहूँ, आत्महत्या कर लूँ।

इस पर कृष्ण वैसी ही चतुराई का परिचय देते हैं जैसी भोज आदि की न्याय-कथाओं में मिलती है। कहते हैं राजा युधिष्ठिर ने रोष में तुमसे कड़वी बातें कह दी थीं। पहले कर्ण से द्यूत में हारे थे, आज रण में हार गये। उनसे सहा नहीं गया। इसलिये तुमसे कुछ कह दिया। उनके भाई उनका सदा सम्मान ही करते हैं, अपमान कभी नहीं करते। तुम आज उनका अपमान कर दो, यही उनके लिये जीते जी मृत्यु के समान होगा। तुम इनसे 'तुम' कह कर बात करो और अपमान की बातें कहो। यह अधर्म करो, इसमें दोष नहीं है। यह उनके वध से भी बढ़कर अवमानना होगी और इसको युधिष्ठिर समझते हैं। यहाँ कृष्ण एक श्रुति प्रमाण भी दे देते हैं कि यह अथर्वांगिरसी श्रुति की बात है, जो श्रुतियों में सबसे बड़ी श्रुति है।

यह श्रुति कौन-सी है, क्या है, पता नहीं। हो सकता है कृष्ण ने अपनी बात मनवाने के लिये श्रुति को भी अपने साथ ले लिया हो। या फिर कोई ऐसी वृद्ध परम्परा रही हो जिसमें ऐसी प्रज्ञा पली और जो अपने आप को किसी अथर्वांगिरस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्रुति से जोड़ती रही हो। यह भी संभव है। पर जो भी हो उनका सुझाया हुआ रास्ता काम कर गया। अर्जुन ने युधिष्ठिर को ऐसी बुरी भली कही जो उनके मन में रही होगी पर जिसे वे कभी कहते नहीं, अगर यह घटना नहीं घटी होती। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि तुम मेरे लड़ने की बुराई करने वाले कौन? पहले अपनी योग्यता तो देखो? भीम मुझसे कहे तो कुछ बात भी है। फिर कहा, तुम केवल बातों के बली हो, युद्ध में कुछ भी नहीं। तुम निष्ठुर हो। मैं स्त्री-पुत्र सहित तुम्हारी सेवा में जुटा रहता हूँ। पर तुम मुझे कठोर बातें ही सुनाते रहते हो। और यह लड़ाई भी तुम्हारे ही कारण हुई है, तुम्हीं ने जुआ खेला। तुम्हारे कारण ही हम कष्ट पाते रहे हैं। और अब तुम मुझे दोष दे रहे हो।

इस समाधान के साथ उपाख्यान पूरा होता है।

कहानी सशक्त है। और जैसा मैंने अभी कहा, कहानी के बिना धर्म के जिस अकथ मर्म की कृष्ण बात कर रहे हैं, उसे बिल्कुल भी नहीं खोला जा सकता। वह खुला है तो कहानी के भीतर से कहानी के द्वार से खुला है। परिस्थिति-गर्भ धर्म है। व्यवहार-धर्म। और कहानी परिस्थिति के विशेष को सामने रखती है। उन मानव-सम्बन्धों को, भावों को, एषणाओं को, उनके तनावों को, उनकी सार्थकताओं को, उनकी संगत-विसंगत गतियों को सामने रखती है, जो कोरे विमर्श की भाषा में उजागर नहीं हो सकते। निष्प्राण नीरस हो जायेंगे। पर यहाँ उपयुक्त भाव-रस जगाये बिना बात ही नहीं खोली जा सकती।

हम यहाँ देख सकते हैं कि हमने जिसे 'वासना' का नाम दिया है, मानव-स्वभाव, मानव-परिस्थिति के बूझ की बुद्धि या प्रज्ञा, वह यहाँ धर्म-प्रज्ञा की सहायक होती है। उसी को अपनी समझ के गर्भ में रखते हुए कृष्ण धर्म का प्रयोग करते हैं। और उसी के आधार पर महाभारतकार उस प्रयोग को हमारी बुद्धि में उतारते हैं।

कहानी में इतने सूत्रों का गुंथाव है कि इसे कई-तरह से देखा उभारा जा सकता है। यों कहानी भी एक नहीं। तीन कहानियाँ हैं। व्याध-कथा की हम उपेक्षा भी कर दें—उसमें कर्म नहीं, अनजाने ही कुछ हो जाता है, इसलिए धर्म की बात भी नहीं उठती—तो भी दो कहानियाँ तो हैं ही। मूल कथा अर्जुन की है, कौशिक की कथा मूल कथा में बंधती धर्म की एक गाँठ, एक धर्म संकट के समाधान की व्याख्या का अंग है।

प्रकट है कि कृष्ण के लिये अर्जुन का धर्म-संकट सचमुच का धर्म-संकट नहीं। मन की झूठी गाँठ है। तुच्छ है। उसका खोखलापन दिखाने के लिये कृष्ण कौशिक की कथा कहते हैं, जो सचमुच धर्म-संकट की कथा है, जहाँ कौशिक को धर्म-संकट होना चाहिये था पर होता नहीं है। कौशिक की कथा से धर्म संकट की स्थिति हमारे आगे उभर आती है। महाभारतकार ने धर्म-संकट और जिसे हम धर्म-संकट का आभास मात्र कह सकते हैं, इनके भेद को खरा उभारा है। हम देख सकते हैं कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह भेद परिस्थिति के तारतम्य से बनता है, धर्म के किसी तत्त्व-विरोध के कारण नहीं।

अर्जुन ने मन ही मन एक प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा क्या ठीक थी? उचित थी? गर्व और अहंकार के वश की गई थी। प्रतिज्ञा निभाना कर्त्तव्य होता है। यही सत्य-धर्म का सार है। पर अर्जुन ने जो प्रतिज्ञा की थी क्या उसके बारे में कहा जा सकता है कि वैसी प्रतिज्ञा सब करें, वह सर्व-सामान्य प्रतिज्ञा हो? कृष्ण के मत में प्रतिज्ञा मूर्खता थी, बचपने की बात थी। कहानी पढ़ते हुए हम भी यह देख पाते हैं कि अर्जुन जो युधिष्ठिर पर खौल पड़ते हैं, वह आहत गर्व और अभिमान के क्रोध का ही उफान था। भाव का बहाव था, संकल्प की स्थिरता नहीं। कर्त्तव्य की बात तो क्रोध को उचित ठहराने की बात थी। या बहाना था? अर्जुन ने प्रतिज्ञा मन ही मन की थी। उस दिन से पहले किसी से अपनी प्रतिज्ञा की बात नहीं कही थी। शायद मन ही मन उसे ठीक नहीं समझते थे। अब हृदय-मन से आहत होकर अचानक उस प्रतिज्ञा की बात उठाते हैं। अर्जुन न होते तो मैं तो यही समझता कि प्रतिज्ञा की बात युधिष्ठिर पर अपने मन की निकालने के लिये की गई थी। कहानी में आगे चलकर जब अर्जुन युधिष्ठिर को बुरा-भला कह कर अपने मन की निकालते ही हैं तो झलक आता है कि उनके मन में युधिष्ठिर के प्रति कितना आक्रोश था, गहरी शिकायत थी। कृष्ण भाँप गये थे; उन्होंने अर्जुन को मन की भड़ास निकालने का 'उचित' बहाना दे दिया। यह भाव-संकट था, धर्म-संकट नहीं। और यह बात कहानी में ही उभारी जा सकती थी। इसमें मनुष्य के स्वभाव की पकड़ है। उसकी दोमुहीं इच्छाओं की भी पकड़ है, कौन सी ऊपर की है, कौन सी भीतर की, इसका विवेक है। अर्जुन अगर कुछ कर बैठते तो पछताते, आत्मघात कर लेते—जैसा उन्होंने कहा भी। जो वे करने उठे थे, सचमुच नहीं चाह रहे थे। प्रतिज्ञा करते समय उन्होंने सोचा भी न होगा कि यों पूरी करनी पड़ेगी। उनके लिये गाँठ धर्म की थी, पर कृष्ण जब उसके खोखलेपन को देखकर उसे आसानी से खोल देते हैं तो हमें भी दिख जाता है कि संकट धर्म-संकट का लग रहा हो, था नहीं। कृष्ण ने श्रेयस् प्रेयस् दोनों को देखते हुए रास्ता निकला।

कौशिक की कहानी को धर्म-संकटं की कहानी कहा गया है। प्रोफेसर मतिलाल द्वारा सम्पादित 'मॉरल डिलेमाज़ इन दि महाभारत' में एक लेख है जिसमें इस कहानी का धर्म-संकट के रूप में उदाहरण दिया गया है। मैं समझता हूँ कहानी धर्म-संकट की है भी और नहीं भी है। धर्म-संकट एक बोध है जो कर्मशील को होता है। हमारी कहानी में अर्जुन को धर्म-संकट होता है कि प्रतिज्ञा पूरी करें तो भी औचित्य-भंग होगा, न करें तो भी। पर कौशिक को ऐसे किसी संकट का बोध नहीं होता। उनका सत्य का प्रण था, उसमें अडिग रहते हैं। हत्यारों को छुपने वालों का पता बताने में उन्हें कोई हिचक या ग्लानि नहीं होती। पीछे पछताये हों, ऐसी भी कहानी में कोई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बात नहीं। शायद उन्हें धर्म-संकट तब होता जब उनका व्रत सत्य का नहीं अहिंसा का होता। क्या तब बेहिचक झूठ बोल देते?

हाँ, नरक गये। पर धर्म को अगर अपने आप में पुरुषार्थ माना जाये, यह माना जाये कि धर्म का अपना औचित्य है, जिसे पाना, जिसे निभाना हमारी धर्म-साधना है तो फिर उस औचित्य की जाँच स्वर्ग या नरक से, या किसी भी फल से कैसे हो सकती है? हम सोच सकते हैं कि कौशिक यही मानते थे। वे सत्यव्रती थे, उन्होंने सत्य निभाया; फल क्या होगा, अपने लिये या दूसरों के लिए, इसकी परवाह नहीं की। धर्म की एक गहरी दृष्टि धर्म का लक्षण ही यह बताती है : धर्म को धर्म के लिये ही करना चाहिये, किसी और फल के लिए नहीं : निष्कारणं धर्मः कर्त्तव्यः।

जिनको हम परम धर्म कह सकते हैं, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दान . . . (तालिका कितनी बड़ी होनी चाहिये, इस प्रश्न में यहाँ नहीं जाऊँगा, पर सत्य और अहिंसा को तो परम धर्म कह ही सकते हैं) इन धर्मों का एक लक्षण यह है कि इनकी अपने-आप में इतिकर्त्तव्यता है, साध्य के रूप में, किसी और फल के साधन के रूप में नहीं। तभी ये परम धर्म हैं।

आनृशंस्य भी परम धर्म है। पर ऊपर की कहानी में कृष्ण का कर्म अगर आनृशंस्य-परक है तो क्या उसे फलकामनाविहीन कर्म कह सकते हैं? कृष्ण की बातों से ही छलकता है कि कर्म से स्वर्ग मिलेगा या नरक, वे इस बात के प्रति सजग हैं। पर हम यह भी नहीं कह सकते कि उन्होंने स्वर्ग या नरक जैसे किसी फल की कामना से अपनी धर्म-प्रज्ञा का प्रयोग किया। फिर भी धर्म का कर्मफल से क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न तो सिर उठायेगा ही। इन लेखों को लिखते हुए यह प्रश्न कई बार मेरे मन में कौंध गया है। कई जुड़े हुए प्रश्न साथ ही साथ जागते हैं : कर्म का फल किसे कहेंगे? क्या किसी अदृष्ट स्वर्ग या नरक को ही फल कहेंगे, जैसाकि चलन है, या कर्म का कोई दृष्ट फल भी होता है? हम साधारण भाव से कर्म किसी दृष्ट उद्देश्य से ही करते हैं। धर्म का, औचित्य-इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न उसीमें जागता है। धर्म संकट भी उसीमें खड़ा होता है। स्वर्ग, नरक की बात तो उन कर्मों के लिए की जाती है जिनके करने का औचित्य निरुद्देश्य, निष्कारण होता है, जो पुण्यकर्म कहलाते हैं, जिनमें परमधर्म भी गिने ही जाते हैं। कर्म के अदृष्ट फल के बारे में एक और भी प्रसिद्ध दृष्टि है, जिसे निवृत्ति-मार्गियों की दृष्टि भी कह सकते हैं, वैसे बड़ी प्रसार-पायी दृष्टि है। इस दृष्टि में कर्म का फल कर्त्ता को ही मिलता है। उसका प्रारब्ध बनता है। उसके आने वाले कर्म को, अनुभव को ढालता है। पर दृष्ट फल का कर्म से और कर्म की इतिकर्त्तव्यता से क्या सम्बन्ध है? यही बड़ा प्रश्न है। क्या फल-विचार किये विना कर्म का औचित्य बन सकता है?

यहाँ कुछ और भी आधारगत प्रश्न उभरते हैं। फल कहेंगे किसे? क्या वह कर्म से अलग कुछ होता है? या कर्म का ही अवसान होता है? और 'अवसान हुआ',

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसकी क्या परख होगी? कर्म तो एक निरन्तर धारा है, उसका अवसान क्या? क्या मृत्यु को अवसान कह सकते हैं? फिर तो फल उसके बाद ही मिलेगा। पर उसको विमर्श का विषय कैसे बनाया जाये?

यों कर्म के कुछ पड़ाव जैसे आते रहते हैं जिन्हें हम फल नाम देते हैं। मैं जो यह लेख लिख रहा हूँ, मुझे लग रहा है कि यह पूरा होने का नाम ही नहीं लेता, बढ़ता ही चला जा रहा है; पूरा होगा तो कर्म का अवसान होगा। पर क्या वही फल होगा? और पूरा होने का क्या अर्थ? जहाँ मुझे लगे कि अब मैंने बात कह ली वहाँ लेख पूरा होगा, या पूरा होने की मेरे 'लगने' से भिन्न भी कोई कसौटी है? कहना न होगा कि है ही। एक नहीं कई कसौटियाँ हैं। वहाँ प्रश्न यह उठेगा कि लेख जैसा 'सम्पूर्ण' होना चाहिये वैसा हुआ या नहीं? शल्य जी के प्रयोग को लें तो पूछेंगे, क्या वह 'पर्याप्त' हुआ? और प्रकट है कि वह पर्याप्त नहीं होगा तो सदोष होगा। और यह मैं भी देख सकता हूँ। इसका एक प्रमाण यह है कि दुबारा लिखने बैठूं तो दोष दिखेंगे, लेख कुछ और बनेगा। पर पूरा होने-न होने में मैं प्रमाण कैसा? मुझे सन्तोष हो भी जाये तो दूसरे को दोष दिखेगा। दोष की —या 'सम्पूर्ण' होने की— कसौटी मेरी-आपकी नहीं होती, सर्वसाधारण होती है।

पर मान लीजिये इसका अवसान हो भी जाता है तो भी क्या वही फल है? आप कहेंगे, है। लेख, कहानी, कविता, उपन्यास इनका लिखना अपने-आप में सार्थक कर्म है, इनका अवसान ही इनका फल है। पर मैं कहूँगा, आप को अच्छा न लगा तो मुझे क्या फल मिला? इसकी चर्चा न हुई तो क्या फल मिला? इससे मेरा नाम न हुआ, दाम न मिले, तो क्या फल मिला? ये फल कर्म के अवसान के बाद होने वाली घटनायें हैं। हम इन्हीं को आम तौर पर फल कहते हैं, और कहते हैं कि कर्म का औचित्य ऐसे फल का मुँह नहीं तकता। मुँह तके तो कर्म काम्य कर्म होगा, निष्कारण नहीं होगा, और इतिकर्त्तव्यता की 'परम' कोटि में नहीं आयेगा। गीता में कृष्ण ने जब कहा कि कर्मफल के प्रति निष्काम भाव होना चाहिये तो दृष्टि में ऐसे ही फल थे। इसका अर्थ स्पष्ट ही यह नहीं कि ऐसे फल नहीं होंगे, हाँ, उनमें ममत्व, आसक्ति नहीं होनी चाहिए। मैं कर रहा हूँ तो कर्म पर और यों फल पर मेरा स्वामित्व है, यह भाव नहीं होना चाहिये।

पर निष्काम कर्म की चर्चा में यहाँ नहीं जाऊँगा। पर अवसान और फल का भेद तो कर्म-मात्र में बनता दिखता है, चाहे निष्काम हो या सकाम। प्रश्न यह है कि अवसान किसे कहें? क्या कर्म-भेद से अवसान-भेद होता है? और अवसान के प्रति कौन-सा भाव हो? अवसान के प्रति ममत्व न सही, पर कर्म-मात्र के किये जाने में ही अवसान का ध्यान रहे बिना कैसे रह सकता है?

और फल क्या कभी अवसान में ही नहीं आ जाता? उसके भीतर ही नहीं समाया रहता? मैंने लेखन की बात की, मगर सौदे की बात लीजिये। कुछ बेच कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ पा लेना सौदा कहलाता है। सौदा 'पूरा' ही तब होता है। यहाँ फल और अवसान का अन्तर धुंधलाता दिखता है। कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर मैंने यह सारी बात यहाँ इसलिये उठाई कि अपनी कहानी में हम कृष्ण के कर्म को सफल मानें या सावसान?

सफल मानें तो समस्या होगी। तब आनृशंस्य को परम धर्म या धर्म ही मानना कठिन होगा, क्योंकि धर्म में कर्म की इतिकर्त्तव्यता अपने आप में बनती है, कर्म के बाहर किसी फल से नहीं। पर जिस घटना की हम चर्चा कर रहे हैं, उसकी इति कहाँ? अवसान को कहाँ रखना उचित होगा? पूरी घटना को एक ही कर्म मानें – चलिये कृष्ण का कर्म मानें – तो कहानी को सावसान के साथ सफल भी मानना पड़ेगा। पर मान लीजिये कि अर्जुन कृष्ण की बात न सुनते, युधिष्ठिर का वध कर बैठते और फिर अपना, तो क्या कृष्ण का कर्म सावसान पर निष्फल होता? निष्फल इस अर्थ में कि जो फल वे चाह रहे थे, उस पर घटना का अवसान नहीं होता। पुण्य या प्रारब्ध के रूप में फल उस घटना से अलग मिलता। पर वह फल तो कर्म के सफल होने पर भी मिला ही होगा। उसका तो कर्म से अनिवार्य सम्बन्ध है। मिले बना रह नहीं सकता।

पर यों भी देखिये। महाभारत की घटना के प्रवाह को हमने एक जगह से तोड़कर उसका एक खण्ड अपनी चर्चा के लिये निकाला है। उस खण्ड के क्या और सार्थक खण्ड नहीं हो सकते? उसे एक ही कर्म क्यों कहें, कर्मों की लड़ी क्यों नहीं? यहाँ प्रश्न सहज ही होगा कि हम कर्म का लघुतम खण्ड किसे कहेंगे? दूसरे शब्दों में, क्या कर्म के अणु की बात हो सकती है? एक और प्रश्न होगा कि, जब कर्म में कर्त्ता एक नहीं अनेक हैं, सबका भिन्न, स्वतन्त्र कर्म है, तो क्या घटना की खण्ड-व्याक्रिया हर कर्त्ता की दृष्टि से अलग-अलग होगी? पर जहाँ एक का कर्म दूसरे के कर्म को ढाल रहा है, बना रहा है, बिगाड़ रहा है, मोड़ रहा है, वहाँ व्याक्रिया की क्या गति होगी? फिर हम कर्म की चाहे जिस आधार पर भी खण्ड-व्याक्रिया करें, उसके आरम्भ और अवसान की तो बात करनी ही होगी – नहीं तो पूरे प्रवाह को एक ही कहना होगा। अखण्ड। फिर न अवसान होगा और न अलग से कोई फल।

इनमें से कुछ टेढ़े प्रश्नों को एक बार अलग रख दें। कहानी पर आयें। खण्ड-व्याक्रिया के किसी आधार की कसौटी के बिना भी हम देख ही सकते हैं कि कहानी को कर्म की दृष्टि से कम से कम दो हिस्सों में तो अनायास ही बाँटा जा सकता है। पहली घटना अर्जुन के क्रोध से लेकर उनके शान्त हो जाने तक की है। और दूसरी कृष्ण के उपाय-कौशल के कारण अर्जुन द्वारा बातों ही से युधिष्ठिर का 'वध' करने की। अब मान लीजिये कि अर्जुन कृष्ण के उपदेश से प्रभावित न होते या उसे ठुकरा देते, और अपने सत्य पर अड़े ही रहना चाहते तो क्या सचमुच युधिष्ठिर का वध कर ही बैठते? क्या धर्म-संकट का बोध उनका हाथ नहीं रोक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेता? क्या वे इतने बेसम्भाल हो गये थे कि रोके न रुकते? उनके स्वभाव-चरित्र को देखते हुए ऐसा मानना कठिन है। जिसे युद्ध में 'अपनों' से लड़ने की बात से धर्म-संकट की घोर कुण्ठा हुई, वह युधिष्ठिर को कृष्ण के नहीं रहते भी झट मार गिराता, यह विश्वास की बात नहीं लगती। पर मान लीजिये अर्जुन कृष्ण की नहीं सुनते। तो फिर क्या होता इसकी कल्पना करना कठिन है। पर जहाँ तक कृष्ण के कर्म का प्रश्न है, उसका अन्त तो नहीं हो गया होता। वे भी तो अपनी धर्म-प्रज्ञा से कुछ करते। क्या करते मैं तो नहीं सोच सकता, पर उनमें धर्म-प्रज्ञा ही नहीं धर्म-प्रतिभा भी थी, जो कुछ न कुछ रूप तो लेती। कहानी का दूसरा भाग और आगे की कहानी फिर कुछ और ही होती। कहानी का अवसान भी कुछ और, कहीं और होता। मैं समझता हूँ कि हमारा वासना-बोध – मानव स्वभाव और भाव एवं संकल्प के सम्बन्धों की पकड़, परिस्थिति-विशेष में घटती मानव-घटनाओं की पकड़ – कहानी को ऐसा भिन्न मान लेने में बाधक होगी कि कुछ का कुछ हो जाये और हमें विसंगत न लगे।

पर फल की बात पर दूसरी तरह से आता हूँ। कृष्ण की और कृष्ण की कहानी के कौशिक मुनि की धर्म-प्रज्ञा में एक मर्म का भेद है, जिसे 'फल' की धारणा को किसी रूप में साथ रखते हुए फैलाया जा सकता है। कौशिक धर्म के परमार्थ में ऐसे स्थित थे कि धर्म की इतिकर्त्तव्यता को अपने-आप में स्थित, स्वप्रतिष्ठ, स्वयंसिद्ध मानते थे। व्यवहार में उसका परिणाम –अवसान– क्या हो, इसकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं थी। धर्म अपने में करणीय है, लोक में, व्यवहार में, किसी परिणाम का मुख नहीं देखता।

कृष्ण की धर्म-प्रज्ञा की ओर देखें तो उसके बारे में भी यह तो नहीं कह सकते कि वे धर्म को अपने आप में करणीय नहीं मानते, या उसे इतिकर्त्तव्यता का स्वयं-सार्थक स्थान नहीं देते। वे भी धर्म को धर्म मानकर ही धर्म-काम हैं, पर उनकी धर्म-कामना में यह चाह और यह चेष्टा भी रहती है कि कर्म का अवसान स्वस्ति हो; कर्म सफल हो। धर्म उनके लिये अहिंसा-गर्भ अभ्युदय है; यही उनका 'अवध' या आनृशंस्य है, यह प्राणियों का प्रभव चाहता है। पूरी परिस्थिति को देखकर, उसे तोलता हुआ उसे मंगलमय बनाना चाहता है। मंगल शब्द का जानबूझकर प्रयोग कर रहा हूँ। यह आनृशंस्य के भाव के साथ युगनद्ध, मर्मबद्ध लगता है। मंगल में श्रेयस् और प्रेयस् के निखार का भाव है – धर्म और काम दोनों का स्वस्ति-संगम।

अभी का लेख यहीं पूरा करता हूँ। बहुत विस्तार हो गया है। पर आगे के लिए एक-दो बातें कह लेना चाहता हूँ। एक तो यह कि आनृशंस्य के दो-एक पक्ष और हैं जिनको यहाँ उभार नहीं पाया हूँ। उनको उभारूँगा और वहाँ धर्मसंकट के कुछ ऐसे बीजों का संधान करूँगा जिनका सम्बन्ध हमारे समष्टिगत समाज-जीवन से है। अब तक की बात धर्म के कर्त्ता को व्यष्टि-रूप में ही देखकर की गई थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक बात और है। आनृशंस्य में भी धर्मसंकट के बीज साफ हैं। इसको भी उभारूँगा। पर एक बात तो ऊपर से ही स्पष्ट है। कृष्ण ने धर्मविभाग की बात की। उनमें विवेक की आवश्यकता है, धर्मविशेष के यथोचित, यथादेशकाल प्रयोग की आवश्यकता है।

यह धर्मविभाग कैसा है? यह ऐसा तो नहीं ही है कि किसी एकरस वस्तु में समरस विभाग हो – जैसे स्वर में सा रे ग म या वर्ण में लाल पीला हरा नीला। इनमें भेद है, पर कोई विरोध नहीं। धर्मविभाग ऐसा नहीं लगता। सत्य और अहिंसा का विरोध तो ऊपर की कहानी में ही झलकता है। आनृशंस्य का प्रयोग इस विरोध को झेलते हुए ही किया जाता है। पर क्या आनृशंस्य विरोध को दूर कर सकता है?

ए-37-38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्म-कथा *

रमेशचन्द्र शाह

तो . . . सवाल कुल मिलाकर यही न हुआ, यही न बना, कि मैं आखिर हूँ कौन? याने कि, मेरी असली जरूरत, असली खोज जो है, वह दरअसल 'मैं कौन हूँ?', इस सवाल का जवाब खोजने और पाने की जरूरत है; न क्रि आत्म-कथा लिखने की। अब, अगर इस सवाल का जवाब ढूंढने के सिलसिले में कथा-पुराण से भी गुजरना पड़ जाय, तो कोई हर्ज नहीं। और, इस ऊबड़-खाबड़, भटकाव भरे बगैर सिलसिले के सिलसिले को ही आत्म-कथा मान लिया जाय तो उसमें भी कोई हर्ज नहीं। यों कई सारी आत्मकथाएं मैंने पढ़ी हैं, एक से एक चटपटी और रसेदार। कुछ बेहद सादी और उबाऊ तक। मुझे आत्मकथा और जीवनियाँ पढ़ने का शुरु से ही बहुत शौक था। क्यों था? कैसे जगा होगा यह शौक? जीवनी या आत्मकथाके नाम पर हमारे यहाँ सचमुच कभी कुछ मिलता भी है? दंतकथाओं-किंवदन्तियों को जीवनी कहा जा सकेगा क्या? वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के बारे में, यहाँ तक कि अभी कुल जमा चारेक सौ बरस पहले ही हो गुजरे तुलसीदास के बारे में भी किसी को कुछ पक्का पता है क्या? और, फिर भी, कैसी-कैसी चित्र-विचित्र कथाएं इन महापुरुषों के साथ जुड़ी हुई हैं? वे क्या सभी सत्य कथाएं हैं? हमारे घर जो एकमात्र साहित्य सुलभा था वह था 'कल्याण' मासिक। उसका एक भारी भरकम विशेषांक मैं किस कदर कुतूहल के साथ रात-दिन बैठकर समूचा चाट गया था, मुझे अभी तक याद है। सूर-तुलसी-नरसी-चैतन्य-ज्ञानेश्वर-तुकाराम-अखाभगत-एकनाथ . . . जाने कहाँ-कहाँ के भक्तों और संतों के जीवन-वृत्त थे उसमें। आखिर ऐसा क्या रहा होगा उनमें जो एक छठे दरजे में पढ़ने वाले दिन-रात खेलकूद में ही मस्त रहने वाले लड़के को इस कदर रमा सका? परन्तु यह सवाल मेरे मन में आज उठ रहा है, तब तो नहीं उठा था। बल्कि सात-आठ बरस बाद अगर वही विशेषांक मेरे हाथ लगता तो क्या उसमें मेरा मन लगता? कदापि नहीं। तब तक वह बचपन की दुनिया बहुत पीछे छूट चुकी थी। पढ़ भी लेता किसी तरह, तो यह मानकर ही पढ़ता कि

*. यह प्रोफेसर रमेशचन्द्र शाह के 'आत्म-कथा' नामक अप्रकाशित उपन्यास का अन्तिम अध्याय है। किन्तु इसमें न तो कोई कथा-प्रसंग है और न पिछले अध्यायों से कोई सम्बन्ध। इसमें औपन्यासिकता इतनी मात्र ही है कि इसकी विधि मत-प्रतिपादनात्मक नहीं है और विचार-क्रम ऊहापोहात्मक नहीं है। किन्तु इसके आत्मकथात्मक होने से दर्शन के कुछ सनातन प्रश्न समाधान की नयी आकुलता और संदर्भों की नवीनता के साथ प्रस्तुत हुए हैं। (सम्पादक)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वे सुनी-सुनाई किंवदन्तियाँ ही हैं, सच्ची जीवनियाँ नहीं हैं। साइंस की पढ़ाई से इतना फर्क तो पड़ता ही था न। क्या यह हकीकत नहीं कि उम्र के हर दशक में हम स्वयं को एक दूसरी ही दुनिया में पाते हैं जो पिछले दशक की दुनिया से काफी अलग – बेमेल तक – लगने लगती है?

और, फिर भी, इस सारी उथल-पुथल के बावजूद हम कहाँ अपने को एकदम दूसरा महसूस करते हैं। अपने को तो हम फिर भी 'मैं' करके ही पहचानते हैं न। कितना अस्थिर, कितना चलायमान है यह 'मैं'। अभी मैंने हर आठ-दस बरसों में मन का भूगोल बदलने की बात कही; मगर क्या यह भी सच नहीं कि कभी-कभी हम एक ही दिन के भीतर, सुबह और शाम के बीच ही अपने को क्या से क्या हो जाते देखते हैं? कभी-कभी लगता है यह पुनर्जन्म के ही पूर्वाभास या पूर्वाभ्यास सरीखा नहीं है क्या, कि हम इसी एक जन्म में इतनी उथल-पुथल से गुजर चुकते हैं? कहाँ वह 'कल्याण' के भक्तांक में हफ्तों-महीनों रमा रहने वाला लड़का और यहाँ यह मैं। कितना अपाट्य या अन्तराल प्रतीत होता है दोनों के बीच। फिर भी, इतना तो पक्का पता है ही ना, कि हूं तो मैं आखिर वही जो तब ग्यारह बरस का था और आज पचपन पार कर गया है? वह भी मैं था और यह भी मैं ही हूँ। और जैसी हालत मेरी तब थी – अंग्रेजी के नाम पर ही जैसा आतंक मुझे जकड़ लेता था, अगर वैसा ही रहा आता मैं, तो? अगर मैं अंग्रेजी कभी सीख ही नहीं पाता, तो? दरअसल जिस शौक की बात मैंने की – आत्मकथा और जीवनियाँ पढ़ने के शौक की– वह तो अंग्रेजी के कारण ही जगा कहना चाहिए। नहीं तो भला, किसको रस है हमारे यहाँ आत्मकथा और जीवनी लिखने में। यह चस्का तो अभी हाल-हाल में ही हमको प्ड़ा है न? जीवनी और इतिहास, व्यक्ति की जवनी और देश और समाज की जीवनी। यानी इतिहास का लेखा-जोखा रखने की जिस तरह की चिन्ता तत्परता दूसरे समाजों में देखी जाती है वैसी हमारे यहाँ तो अभी पिछली सदी तक नहीं के बराबर ही रही ना? अब जरूर यह लग रहा है कि अपनी भी आदतें बदल रही हैं। जीवनी और इतिहास में अब हम भी दिलचस्पी दिखाने लगे हैं। बल्कि क्षतिपूर्ति के न्याय से कुछ ज्यादा ही धड़ल्ले से उस तरफ झुके जा रहे हैं। पहले इतिहास-बोध अपेक्षाकृत क्षीण था, पर अवस्थिति-बोध काफी तगड़ा था। अब इतिहास-बोध काफी मुटा गया है–इतिहासवादियों की मेहरबानी से। पर, शायद अवस्थिति-बोध की कीमत चुकाकर। क्या ऐसा नहीं लगता?

निश्चय ही, इतिहास बोध बहुत काम की चीज़ है – क्या व्यक्ति के लिए और क्या जाति या समुदाय के लिए। स्मृति का नैरन्तर्य तो चाहिए ही – आत्मबोध की अक्षुण्णता के लिए। किन्तु स्मृति और स्मृति में भी अन्तर देखा जाता है : उसका नैरन्तर्य बनाए रखने के तौर-तरीकों में भी। क्या भुला दिया जाय, क्या याद रखा जाए और क्या बार-बार याद किया जाय, इस बारे में सभी एकमत तो नहीं दीखते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक तो भूलने की स्वाभाविक क्रिया होती है व्यक्ति के जीवन में। उसके बिना तो जीना ही असंभव हो जाए। यदि हम आठों पहर उस सबकी याद से घिरे रहें – जो कुछ भी हमारे साथ घटा है, तो हम तो उसीमें फँस जाएंगे। क्या कारण है इसका भी, कि जो कुछ हमें याद रहता है, उसमें भी कुछ ही बातें – कुछ ही आवाजें और मूरतें ऐसी होती हैं जो हमें बार-बार याद आती रहती हैं? आखिर क्यों ऐसा होता है? कदाचित् उनमें हमारे लिए कोई विशेष अभिप्राय और संदेशा निहित हो। नहीं तो दूसरी सैकड़ों बातों के साथ वे भी विस्मृत हो जानी चाहिए थीं। ये स्मृतियाँ, ये मूरतें, ये आवाजें हैं तो हमारे ही व्यक्तिगत जीवनानुभव से जुड़ी हुई; फिर भी, वे इस तरह हमारे भीतर कौंधती हैं, जैसे वे हमसे अलग और दूर भी हों–अपना एक अलग ही रहस्य और आकर्षण छुपाए हुए। उनका गाहे-बगाहे इस तरह याद आना मानो हमें ललकारना है उसी रहस्य और मर्म को बूझने के लिए। तब तक जैसे वे हमें छोड़ेंगी नहीं। ऐसे क्षणों में लगने लगता है कि यह जो स्मृति नाम की निधि इस मानवजीव को सौंपी गई है, वह उतनी ही नहीं है, जितनी वह ऊपरी तौर पर प्रतीत होती है। उसका घेरा बहुत बड़ा है – हमारी व्यक्तिगत जीवनी के ब्यौरों और सिलसिलों की स्मृति से बहुत-बहुत बड़ा। किसी महास्मृति का अंग। यों नितान्त हमारी व्यक्तिगत होते हुए भी ये कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं, जिनका पीछा करने को अन्तर्विवश हम कहाँ के कहाँ भटक जाते हैं और उलझते चले जाते हैं एक अजीब सी गुंजलक में। कुछ इस तरह कि हमारा व्यक्तित्व, जिसे हम इतना कसके पकड़े रहते हैं, जो न जाने कितने सारे लोगों की दृष्टि में, और खुद हमारे लिए भी हमारा जाना-पहचाना स्वरूप है, वही मानो हमारी पकड़ से छूटने लगता है। और इससे भी अधिक विस्मयकारी तथ्य यह कि जब भी ऐसा होता है, हमें बुरा नहीं लगता, घबराहट नहीं होती, उल्टे हम अपने को सामान्य अवस्थाओं की अपेक्षा कुछ अधिक ही उन्मुक्त और विस्तृत अनुभव करते हैं। इसका मतलब क्या हुआ?

अब, है तो यह भी अनुभव ही – हमारी सामान्य जीवनानुभूति का ही एक विलक्षण प्रकार। तो क्या इसका अर्थ मैं यह समझूं कि मेरा जीवन मेरी जीवनी की सीमाओं में ही पूरी तरह आबद्ध नहीं है, उसके आर-पार कौंधने वाला उसका कहीं कोई मर्म भी है? तो क्या जिसे मैं मेरा व्यक्तित्व, मेरी जीवनी कहता हूं, वह भी अन्ततः एक गुंजलक सी लगती है? कदाचित इसी कारण वैसी अद्‌भुत खुलावट और घुलावट अनुभव होती हो। तब फिर वह हृदयग्रन्थि क्या है जिसके बारे में हमने पढ़ा है कि उसके कट जाने पर हमारे सारे संशय कट जाते हैं, परम आनंद की अनुभूति होती है जिसका दूसरा नाम आत्मोपलब्धि है? किन्तु यह आतमा अन्ततः क्या है? मेरे लिए कुल मिलाकर वह एक शब्द से अधिक क्या है? क्या मैं कह सकता हूँ सचमुच, कि मुझे आत्मा का पता लग चुका है और उस पर मुझे विश्वास है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मैं, कई बरस बीते, अपने कुटुम्ब के साथ अजन्ता-एलोरा की सैर पर निकला था। औरंगाबाद में, शायद होटल में ही किसी से सुना कि संत एकनाथ जहाँ रहते थे, वह पैठण यहीं कहीं पास में ही है। भला क्या लेना-देना था मुझ सरीखे अश्रद्धालु को पैठण और एकनाथ से? मगर एक अजीब उत्सुकता मन में जग आई। बस पकड़ी और पैठण जा पहुंचा। मुझे बताया गया कि यही तो है वह घर जहाँ संत एकनाथ निवास करते थे और यही हैं उनके वंशधर। मुझे रोमांच हो आया उस घर में प्रवेश करते हुए। हम उस मूर्ति के सामने खड़े थे जिसकी पूजा एकनाथ करते थे। हमें बताया जा रहा था कि कैसे एकनाथ नीचे गोदावरी से जलभरी काँवर अपने कन्धों पर रखके लाते थे तो उनके कन्धों पर घट्टे पड़ गए थे और ठीक वैसे ही घट्टे भगवान् के कन्धों पर पड़ गए थे। "देखिए अभी भी पड़े हुए हैं वैसे ही।" अचानक मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं दो टुकड़ों में बंट गया हूँ और दोनों की हरकतें अलग-अलग देख रहा हूं। एक तो हंसे जा रहा है –"वाह! क्या वाहियात बात है! कैसी मनगढ़न्त!" . . . और दूसरा वहीं मन्त्रमुग्ध सा खड़ा है। सिर से पाँव तक उसके बिजली की करेण्ट सी दौड़ रही है। आंखें डबड़बा रही हैं – कुछ दिखाई नहीं दे रहा, कुछ सुनाई भी नहीं दे रहा उसे। तब सहसा याद आया कि यह जो किस्सा उस पुजारी ने सुनाया वह वही था जो युगों पहले उस ग्यारह बरस के लड़के ने 'कल्याण' के विशेषांक में पढ़ा था। कदाचित् ऐसी ही दशा मेरी तब भी हुई होगी। परन्तु . . . मैं तो अब वह नहीं रहा। इन चालीस बरसों में तो मेरे भीतर न जाने कितने भूचाल आगए। आस्था-विश्वास जिसे कहा जाता है, श्रद्धा-भक्ति जिसे कहते होंगे, उसकी तो जैसे कोई गुंजाइश ही नहीं बची है मेरे मन में। साइन्स ने, और साइंस को ही क्यों दोष दूं, आधुनिक साहित्य और राजनीति और दर्शन सभी ने मिलकर मुझे उस पूरी दुनिया से ही बेदखल करदिया है कभी का। लाख चाहूं तो भी अपनी उस बचपन की दुनिया को, वापस ला सकता हूं क्या? उस भरे-पूरे देवलोक को, जो मेरे लिए कबका उजड़ चुका है, फिर से बसा सकता हूं क्या?

नहीं। नहीं बसा सकता। बाइबिल में कहीं आता है कि पुरखों के पाप उनकी सन्तति को भुगतने पड़ते हैं। पाप तो इसे क्या कहूं, पर भूल ही सही, लगता है वह अक्षम्य भूल थी पुरखों की कि वे बुद्धि का अनादर करके महज पुराण के बूते टिकाए रहे किसी तरह अपनी धर्म-चेतना को। अब वह बुद्धि ही मानो इस तरह अपनी सुदीर्घ अवमानना का बदला चुका रही है – मुझे तो कुछ ऐसा ही लगता है। दुर्दैव के मत्थे, इतिहास के मत्थे, साम्राज्यवादी धर्मोन्माद के मत्थे चाहे जितना दोष मढ़ लूं अपनी दुरवस्था का, उससे मेरा समाधान नहीं होता; पूरी व्यवस्था नहीं होती वस्तुस्थिति की। कहीं कुछ गड़बड़ तो जरूर हुई। और उसी चेतना में, उसी स्मृति में हुई जिसने अपनी आस्था और अपनी जिजीविषा को – आध्यात्मिक जिज्ञासा को भी – परमेश्वर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के भय पर नहीं, अभय पर टिकाया था। यह आकाश और यह अन्तरिक्ष जिस तरह अभय हैं, वैसे ही मेरे प्राण भी अभय हों – यह अनुभूति जिस आत्मविश्वास में से उपजी होगी वह आत्मविश्वास ही कहीं दरक गया लगता है। एक फाँक सी पड़ गई है उसमें। वह फांक अभी तक भरी नहीं जा सकी पूरी तरह। जिसकी जड़े ही अभय-बुद्धि में थीं, वह धर्मचेतना ही खण्डित-विकलांग हो गई। ज्ञान और भक्ति अलग-थलग जा पड़े। भक्ति भी अपनी सारी महती उपलब्धियों के बावजूद सचमुच समाज का कायाकल्प करने वाली शक्ति में परिणत नहीं हो पाई। बुद्धि-ग्लानि और धर्म-ग्लानि के बीच सीधा समानुपात होना चाहिए – उस धार्मिक संस्कृति में तो और भी अधिक, जो मतवाद की नहीं, विशुद्ध अनुभूति और बुद्धिप्रामाण्य की अपेक्षा रखती हो। बुद्धिविमुख श्रेष्ठ मनुश्य भी मात्र अभ्यासवश श्रेष्ठ माने जाने के कारण इतरजन के लिए प्रमाणस्वरूप ही बन जाते हैं। गीता की चेतावनी भी अनसुनी कर दी गई, तो जो हुआ, उसका दायित्व भला और किस पर आएगा?

महज इसलिए, कि हमारे बीच आत्महीन पर-प्रत्यायी बुद्धिजीवियों की खासी भरमार हो गई और बोलबाला भी आजकल उन्हीं का है, मात्र इसी पर से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि सभी बौद्धिक वैसे ही हैं, सभी पश्चिमाभिमुख और नकलची हैं, अपनी परम्परा से अनभिज्ञ हैं, एक ऐसी आत्मतुष्टि और आत्मछलना है, जिसका कोई इलाज नहीं। ऐसे नीरन्ध्र परंपरावादियों से वे आधुनिक भाव-बोध-संपन्न लोग कहीं ज्यादा ईमानदार और खरे हैं जिन्हें बौद्धिक यंत्रणा व्यापती है। निश्चय ही यदि वे अपनी बौद्धिक सत्यनिष्ठा के चलते यही अनुभव करते और कहते हैं कि 'बुद्धि ही इस मोह-तम में ज्योति अन्तिम है हमारी' तो यह केवल तथाकथित पश्चिमी बुद्धिवाद से आक्रान्त होने के कारण नहीं है, बल्कि उस बुद्धिप्रामाण्य की प्रतिष्ठा के दायित्व का सहज स्वीकार और साहस है, जिसकी अवहेलना ने न केवल हमारे ज्ञानात्मक संवेदन को क्षतविक्षत किया, बल्कि भक्ति के महान विचार को भी हमारी सामूहिक चेतना और सामूहिक अस्तित्व का कायाकल्प करने से अधबीच में ही रोक दिया।

तो . . . बीसवीं सदी के नागरिक इस भारतीय बुद्धिजीवी के लिए आत्म-प्रतिष्ठित होना उस तरह समस्यामूलक तो है ही। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः,' 'छुतयः विभिन्नाः' वाली बात आज के जीवन-संदर्भ में यदि एक नई विकलता के साथ उसके सिर पर चढ़कर बोलती है तो यह अकारण और अनर्गल नहीं है। वह कौन सा रसायन होगा जो उसकी गांठ को सचमुच घुला सके? उसे भक्ति भी चाहिए, ज्ञान भी चाहिए, कर्म भी चाहिए। इससे कम में उसका काम नहीं चलने वाला। उसे ब्रह्म भी चाहिए – जिसके सामने वह बगैर बौद्धिक ग्लानि के सिर नवा सके। मगर इस निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ उसे अपनी भाव-ऊर्जा को अर्थ और मार्ग देने वाला कोई शंकर या विष्णु, कोई राम या कृष्ण भी चाहिए। यानी सहस्राब्दियों में विकसित भाव-बोध, भारतीय धर्मचेतना का समूचा विकास-क्रम उसे आत्मसात् करना चाहिए, तभी तो उसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वह मिलेगा जिसकी उसे जरूरत है। तभी तो उसके संकट का सही-सही इलाज होगा। ऐसा उसे लगता है। अब यह असंभव आकांक्षा नहीं तो और क्या है? मगर क्यों? व्यास को समूचे वैदिक वाङ्मय का संकलन करके भी संतोष नहीं हुआ। महाभारत लिख डाला, फिर भी चैन नहीं पड़ा। यह जो बीसवीं सदी का हिन्दी कवि कह गया है कि 'आत्मा है अखिल के हठ सी', उसका आशय सम्भवतः वह नहीं जो श्रीमद्‌भागवत की रचना का हेतु बताते हुए व्यास का आशय रहा होगा। मगर कुछ तो सम्बन्ध है ही दोनों के बीच। व्यास की व्याकुलता यही न थी कि 'मैं इतना सब कुछ करने के बावजूद अखिल नहीं अनुभव कर रहा हूं, अखण्ड अनुभव नहीं कर पा रहा हूं।' तो उन्होंने खुद ही अपने कष्ट का निदान किया और खुद ही उसका इलाज भी ढूंढा। भक्ति के महाभाव से कम में इलाज भी कैसे सम्भव होता? और यह वही देख और कर सकता था जो पहले महाभारत को अपनी स्नायुओं में झेल चुका हो, महाभारत को रचकर उस झेले हुए से भी उबर चुका हो। आखिर श्री अरविन्द ने जो वाल्मीकि रामायण को एक स्थिर और सुसंवादी युग का महाकाव्य बताने के बाद महाभारत को देशव्यापी बौद्धिक उथल-पुथल के युग का महाकाव्य बताया, तो यूं ही तो नहीं बताया। अब इससे भला क्या फर्क पड़ता है कि व्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं हो सकता, कि उनकी जीवनी नहीं मिलती, आत्मकथा नहीं मिलती? किंवदन्ती ही सही, मिथ ही सही, परन्तु क्या इस मिथ और किंवदन्ती में एक सान्द्र और सारभूत आत्मकथा का मर्म – बल्कि उससे कहीं गहरा और महत्तर मर्म, निहित नहीं है?

तो, बुद्धिप्रामाण्य को ताक में रखकर विश्वास की सुविधा भोग लेना – यह मुझसे नहीं होगा। आधुनिक बुद्धि की चुनौतियों को सामने से ही मिलना होगा, कतराते हुए नहीं। जिस कवि ने 'ऐसे ब्रह्म लेई का करिहैं' कहा था, उसीने आगे जाकर यह भी देखा था कि बात सिर्फ इतनी ही नहीं है, बात दरअसल 'चेतना का सुन्दर इतिहास/अखिल मानव-भावों का सत्य' जिसे स्वयं उसीने कहा, उसे आत्मसात् करने की है; और उस 'इतिहास' और उस 'सत्य' के भीतर से ही समकालीन जगद्गति को परखते हुए और पचाते हुए अपने होने का अर्थ देने की है।

मगर इस बुद्धि का क्या करें, जिसमें न तो ईश्वर के लिए कहीं कोई गुंजाइश निकलती दीखती है, न आत्मा के लिए। आखिर बौद्धदर्शन और बौद्धधर्म भी तो इसी मिट्टी से उपजा था? उसने भी आत्मा को नकारा कि नहीं नकारा? ईश्वर-आत्मा की अस्वीकारी धार्मिकता – यह भी तो हिन्दुस्तानी दिमाग की ही देन है ना? हमारे कई सारे आधुनिक बौद्धिक बिरादर, जिनके लिए वेद और प्राण तो कुफ्र हैं ही इतिहास, यानी महाकाव्य तक बगैर पूरी सेकुलर झाड़-फूंक किए यथावत् स्वीकार्य नहीं हैं, वे यदि इस बौद्ध मत का ही मनमाना अर्थ पढ़ लेने और उसीसे जा चिपटने में अपनी बुद्धि की कुशल समझते रहे हैं तो यह भी अकारण नहीं हो सकता। उस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तरह अधिकांश पश्चिम भी तो भारत के नाम पर उसी बौद्ध धर्म-दर्शन के प्रति ही थोड़ा वहुत आकर्षण अनुभव करता रहा है। आत्मा वाले धर्म और दर्शन की तो वहाँ भी कितनी कम पूछ है? फिर उसीका आग्रह क्यों? इसके उत्तर में मैं ठेठ बीसवीं सदी के अपने कुछ महापुरुषों की आड़ लेता हूं। क्या रमण महर्षि, क्या रामकृष्ण परमहंस, क्या विवेकानन्द, क्या गांधी और अरविन्द – कोई भी तो इस 'आत्मा' को छोड़कर बात करने को तैयार नहीं। और तो और, राममोहनराय तक से उनके गौरांग मित्रों की शिकायत यही रही – मैक्समूलर की भी – कि राममोहनराय ईसाइयत से काफी कुछ संवेदित ओर प्रभावित होते हुए भी आत्मा और परमात्मा के अद्वैत के विचार को तजने को तैयार नहीं। तो क्या ये सारे महापुरुष जिद्दी और सनकी कहलाएंगे। अपने सारे संशय और मखौल-वृत्ति के बावजूद मैं उन पर, यानी उनकी आत्मानुभूति पर शक नहीं कर पाता, तो क्यों?

काश, कि इतने से काम चल जाता! काश, इन महापुरुषों का नाम लेकर ही मैं अपने खोखल से उबर सकता। वह विश्वास, यानी वह आत्म-विश्वास प्राप्त कर सकता, जिसके बिना जीवन निस्सार लगता है। स्पष्ट ही, 'महाजनो येन गतः स पंथा' के आश्वासन के बावजूद, इन महापुरुषों का हो चुकना और इसी सदी में हो चुकना भी मेरे जैसों के लिए पर्याप्त नहीं। वह क्या कहा था गांधीजी ने कि "हिन्दुस्तानी मासागर के किनारे पर ही मैल जमा है . . . उससे जो गन्दे हो गए हैं, उन्हीं को अपने को साफ करना है। बाकी करोड़ों लोग तो सही रास्ते पर ही हैं. . . इत्यादि-इत्यादि।" वह बात भी कहीं मन को छूती तो है। क्या अब भी उन करोड़ों की श्रद्धा-बुद्धि को जगाकर उनके समवेत सहयोग से इस उपभोक्ता संस्कृति और मूल्य-विहीन राजनीति का प्रतिकार किया जा सकेगा? लगता है, दोनों पुनर्जाकरण अधूरे थे, विकलांग थे। अब एक तीसरा ही पुनर्जागरण चाहिए जो उन दोनों के अंधेरेपन को पूरा करे, जो व्यष्टि और समष्टि के बीच विद्युत्तरंग सी दौड़ा सके, ज्ञान और भक्ति के एक अविच्छन्न् प्रवाह में। यह कब होगा, कैसे होगा? कोई रास्ता नहीं सूझता।

और . . . ये महापुरुष भी कैसे? जिन्हें अनुयायी बनाने से कोई मतलब नहीं। इसलिए कि वे महापुरुष हैं, मसीहा नहीं। मसीहाई उन्हें करनी नहीं है, हमारे पीछे चलो, तुम्हारा उद्धार हो जायगा, यह आश्वासन वे देते नहीं। हमें अपने भरोसे छोड़ देते हैं। रमण महर्षि का ही उदाहरण अपने सामने है। हजार पृष्ठों में फैली उनकी प्रत्यक्ष बातचीत से क्या प्रकट होता है? एक ही बात, एक ही रट – आत्मविचार। 'पूछो – मैं कौन हूं, तुम्हे आत्मोपलब्धि हो जाएगी।' मगर मेरे जैसा अल्पप्राण व्यक्ति तो उन हजार पृष्ठों को बारम्बार घोख चुकने के बाद भी समझ नहीं पाता यह इतना आसान क्योंकर है। उनके हिसाब से अवश्य आसान है और जब तक उनकी आवाज कानों में पड़ती रहती है, तब तक सचमुच यही भ्रम होता रहता है कि वे बिल्क़ुल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सही कह रहे हैं और असली राह भी यही है। बचपन में कभी योगवाशिष्ठ की कथा सुनी थी रघुनाथ मंदिर में। उस अचेतावस्था में भी कुछ न कुछ भावोद्रेक तो हुआ ही होगा, क्योकि रमण महर्षि की वाणी भी – अंग्रेजी अनुवाद के आर-पार भी सुनाई दे सकने वाली वाणी भी –मुझमें अक्सर कुछ-कुछ उसी तरह का भावोद्रेक जगाती है। परन्तु यदि इतने से बात बन जाने वाली होती तो फिर कहना ही क्या था? नहीं बनती मगर, यही तो रोना है।

मजे की बात यह है कि रमण महर्षि की बातें, जिसे हम बौद्ध प्रज्ञा कहते हैं उसे भी अपने में बखूबी समेट लेती प्रतीत होती हैं। बौद्ध अनात्मवाद रमण महर्षि को नहीं पचा सकता, न उसे समझा सकता है। किन्तु रमण महर्षि (और रामकृष्ण परमहंस) अपने आप में बुद्ध की संबोधि को ही समाहित किए लेते हैं। सो कैसे? इसका क्या अर्थ है?

x x x

तीन चौथाई उम्र बीत चुकी मेरी। अब एक चौथाई भर बाकी है और उसका भी पक्का भरोसा नहीं। रोगों-दुर्घटनाओं का जाल सा बिछा हुआ है चारों ओर। हर रोग, हर दुर्घटना जैसे मेरी ही ताक में बैठे हों। पचपन बरस मुझ पर लद गए और अभी तक आत्मा का कोई सुराग नहीं मिला। इस हड़बड़ी और आतंक के बीच सच्ची साधना सम्भव है क्या अब भी? तो क्या ऐसे ही बिला जाऊंगा काल की डाढ़ों में बिना आत्मा को देखे-सुने? बात पचती नहीं किसी भी तरह। पर, रास्ता क्या है, उपाय क्या है? श्री अरविन्द कहते हैं—परम सत् (ऐब्सल्यूट) भी है, विश्वात्मा (कॉस्मिक स्पिरिट) भी है, और जीवात्मा, यानी 'इन्दिविजुअल सेल्फ़' भी है। और यह जीवात्मा दोनों से लगातार जुड़ा हुआ देश-काल में निरन्तर प्रगतिशील है। यानी, मैं जो हूं, यह जीवात्मा हूं, जो जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा के अनुभवों से निरन्तर निखरता-संवरता आगे बढ़ रहा है, निरन्तर ऊपर उठ रहा है और उसकी लय मिली हुई है; एक ओर विश्वात्मा से, दूसरी ओर परब्रह्म सच्चिदानन्द से। यह जीवन यह घोर पार्थिव-सांसारिक जीवन भी जीवात्मा की इस यात्रा में सहायक होने के लिए ही है। हां, यह घोर पार्थिव जीवन, दुःख और दैन्य और भय और शोक से आमूलचूल पटा हुआ जीवन भी गहरे में दिव्य जीवन ही है। हर वस्तु के भीतर चेतना है—कहीं पूरी तरह बंधी हुई और प्रसुप्त; तो कहीं थोड़ी बहुत मुक्त। पत्थर और मिट्टी में भी वह है; वनस्पति और पशु जगत् में क्रमशः अधिकाधिक जगती हुई वह मनुष्य में आकर आत्म-चेतना का स्तर प्राप्त कर लेती है। किंतु मनुष्य ही कहां हर समय चेतन रह पाता है? अचेतन की खींच उस पर दिन दहाड़े भी हावी रहती है कि नहीं? आत्मा को जान लेने का अर्थ है इस पार्थिवता की खींच से मुक्ति। पूर्ण स्वातंत्र्य। परन्तु जो परम सत् है, उससे यह बन्धन स्वीकार ही क्यों किया? कि या तो पूर्ण स्वातंत्र्य की कामना फिर किसलिए? दार्शनिक यशदेव शल्य का कहना है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"दार्शनिक विचार-वितर्क अभिन्न के भिन्न होने, अपने को आप पतियां लिखने का खेल है यह अपने को अपने से अलग करके प्यार का स्वाद चखने का उपाय है।" यह बात वे कबीर का हवाला देकर कहते हैं तो इसका मतलब यही न हुआ कि मर्मी और कवि भी यही करता है। उसका स्वधर्म भी अन्ततोगत्वा यही है। श्री अरविन्द चूंकि दार्शनिक से पहले योगी हैं, कवि हैं, इसलिए थोड़ी देर और उनकी बात भी सुननी चाहिए। क्या कहते हैं वे?

लगता है, वे यह कह रहे हैं कि यदि पूर्ण स्वातंत्र्य का अर्थ केवल कूटस्थ ब्रह्म होता तो यह जगत् भी भला क्यों होता? चेतन-अवचेतन-अचेतन के कितने सारे स्तरों तक विस्मृत यह जीवन भी क्यों होता? भला क्या जरूरत थी पृथ्वी की और उसी पर अवलम्बित और उसीकी गिरफ़्त से छुटकारा पाकर उड़ जाने की कोशिश में लगे इस जीवात्मा की? जाहिर है कि परमात्मा भी परमात्मा बने रहकर संतुष्ट नहीं। वह विश्वात्मा और जीवात्मा बनना चाहता है। विश्व के रूप में अपनी ऊर्जा को चरितार्थ करते रहना चाहता है। तो यह जो जीवात्मा है, "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" यह जो पार्थिवता में जकड़ा हुआ, प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् में लिपटा हुआ जीवात्मा उसके होने का अर्थ इस लपटे को खोलना, अपने को अधिकाधिक मुक्त करते जाना ही हुआ ना? स्वतंत्रता का.अनुभव बिना परतंत्रता को भोगे-जाने कैसे सम्भव होगा? तो क्या आत्मा का जीवात्मा बनना इसी अनुभव का स्वाद चखने के लिए नहीं है? 'इनवौल्यूशन' और 'इवॉल्यूशन', मीलन और उन्मीलन यही तो सृष्टि और मनुष्य का रहस्य है, यही तो लीला है। बंधन, फंसावट, अकुलाहट, छटपटाहट, यह सब जरूरी है। जीवन का चक्र नहीं चलेगा तो मुक्ति का भी क्या अर्थ रह जाएगा?

मगर, यदि मैं जीवात्मा हूं और मेरे जीवात्मा होने का अर्थ इतनी बड़ी अभीप्सा है तो उस अभीप्त की पूर्ति महज़ इस एक छोटे से जीवन में कैसे सम्भव है? यह कैसा और कहां का न्याय है कि इस विराट् सृष्टि में मुझे मात्र एक शरीर और एक जन्म देकर फेंक दिया जाए अपनी उन जड़ताओं से जूझने-उबरने के लिए, जो लाखों बरसों की संचित जड़ताएं हैं? क्या इस जन्म के आगे-पीछे कुछ नहीं? इससे अधिक निर्मम और क्रूर परिहास मेरे साथ क्या होगा?

स्पष्ट ही, यह एक शरीर, एक मन और एक जन्म पर्याप्त नहीं। स्पष्ट ही, यदि पूर्णकाम होना या मोक्ष जिसे कहा जाता है, वही चरम पुरुषार्थ है, तो इस पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए मुझे देश और काल को बहुत बड़ा फलक मिलना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब मैं बार-बार जन्म लूं, बार-बार लौटकर आऊं इस अनन्त सम्भावनाओं से भरी सृष्टि में। 'असंख्य बंधन माझे लभिबो मुक्तिर स्वाद . . .' यह हमारे अपने कवि ने कहा है ना? पता नहीं, टैगोर अपनी बीसवीं सदी वाली तर्क-बुद्धि से पुनर्जन्म में विश्वास करते थे कि नहीं। टैगोर के मित्र और समानधर्मा कवि येट्स

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो डंके की चोट पर पुनर्जन्म में अपनी आस्था घोषित करते हैं, जबकि वे ईसाई परम्परा में जनमे थे, जहां उस तरह पुनर्जन्म में विश्वास करने की गुंजाइश ही नहीं है। 'रिज़रेक्शन' की बात बिलकुल अलग है। और अपनी तर्क-बुद्धि के स्तर पर पुनर्जन्म को नकारने वाले कवि अज्ञेय की कविता भी क्या कहती सुनाई पड़ती है; यही ना, कि "मैं बार-बार हठ करके दुर्लभ/अनन्य यह मानव-लोक वरूं?" क्या मतलब हुआ इसका? यही न, कि अज्ञेय भी न सही गद्य में, कविता के अपेक्षाकृत अन्तरंग एकान्त में पुनर्जन्म की बात से संवेदित होते ही थे। तभी तो इस अनन्य मानव-लोक को बार-बार वरना जीवात्मा के आत्म-चरितार्थन के लिए उन्हें इस क़दर अनिवार्य लगा।

अन्ततः पुनर्जन्म का तर्क भी यही न है, कि चेतना के सहस्राब्दियों में विस्तृत 'एड्वेंचर' के भोग के लिए जीवात्मा को उतना ही सुदीर्घ और निरन्तर जीवन चाहिए! उसके लिए हर बार एकदम नया आरम्भ, एकदम नए सिरे से एक नया परिवेश और नया शरीर और मन मिलना चाहिए। किन्तु, पूर्व संचित अनुभव-संपदा भी साथ में होनी चाहिए तभी तो उस दिशा में बढ़ने की प्रेरणा होगी और यह नया आरम्भ उसमें कुछ जोड़ेगा? पूर्वजन्मों की स्मृति भले न हो — वह तो होनी भी नहीं चाहिए। शरीर के साथ-साथ मन भी तो एकदम नया चाहिए न। पुरानी स्मृतियों का बोझ लादे चलना है तो नया मन भी कैसे संभव होगा? मगर पूर्व संचित अनुभव संदपदा का लाभ फिर कैसे मिलेगा? कदाचित् इसीलिए सूक्ष्म शरीर की बात की जाती है। वह संचित अनुभव-सम्पदा भी सुरक्षित रहेगी अवश्य ऐसा शास्त्रों का कहना है। किन्तु मन की ओट में, अलक्ष्य। जीवात्मा उसे जानता है, जीवात्मा उसका उपयोग करता है अपने प्राक्तन संस्कारों के रूप में, जिनकी स्मृति उस तरह चेतन रूप में रहना मन के लिए बिलकुल भी आवश्यक नहीं है।

अब, यदि पूर्वजन्मों में जो क़सर रह गई थी, उसे पूरा करने के लिए ही नया जन्म मिलता है तो ऊपर के तर्क से नए जन्म का परिवेश पूर्वजन्म के परिवेश से बेहतर होना ही चाहिए। वंशानुगत लाभ भी और परिस्थितिगत लाभ भी मिलना चाहिए। अर्जुन ने आख़िर यही तो प्रश्न पूछा था कृष्ण से कि तुम्हारी बताई आत्मोपलब्धि की साधना तो बहुत ही कठिन और सुदीर्घ जान पड़ती है; इस छोटी सी आयु के भीतर, तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच मनुष्य के लिए उसे निबाहना नितान्त दुष्कर है। और साधक यदि बीच में ही काल-कवलित हो जाए या साधना उसकी अधूरी रह जाय तो उस अवस्था में क्या होगा? उस दशा में कहीं वह लोक-परलोक दोनों से वंचित हो गया तो? ". . . कच्चिन्नोभयविभ्रष्टो छिन्नाभ्रमिव नश्यति" कितनी सहज और दुर्निवार्य शंका है यह अर्जुन की। इसी संदेह के कारण, नश्वरता की विडम्बना के इसी अहसास के चलते तो चार्वाक, एपिक्युरस, हेडनिज्म आदि जाने कितने संप्रदाय खड़े हो चुके हैं। आज की तथाकथित विश्वव्यापी ऐन्द्रिक,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषयमुखी सभ्यता, यानी सेंसेट कल्चर के भी मूल में क्या यही नहीं है। जो कुछ है, बस यही एक शरीर, यही एक जन्म है। जितना जो कुछ भोगना है, इसी शरीर से भोगना है, परलोक वगैरा सब मिथ्या मनगढंत है, क्या यही आज की सभ्यता का सार्वभौम विश्वास नहीं है? विश्वास न भी कहें — आचरण अधिकांशतः क्या वैसा ही नहीं है? हम हिन्दुस्तानियों पर भी क्या यही बात लागू नहीं होती? हमारे तथाकथित श्रेष्ठजन क्या किसी से कम लालची, कम भ्रष्ट हैं? बल्कि, मुझे तो लगता है, आत्मा औ पुनर्जन्म मानने वाले अपनी धर्मग्लानि और सांस्कृतिक गिरावट के चलते उन लोगों की तुलना में कहीं अधिक लोभी और पतनशील सिद्ध होते होंगे, जिनके धर्म विश्वास दूसरी तरह के हैं। इसलिए कि अद्वैत और ब्रहुदेववाद के साथ-साथ पुनर्जनम मानने वालों को वैसे भी बहुत सारी छूटें मिली रहती हैं, जो शायद एकेश्वरवादियों को, कयामत वालों को सुलभ नहीं हैं। कयामत वालों का अनुशासन भी काफी सख्त होता है; उन पर पाबन्दियां भी काफी कड़ी होती हैं। मूल पाप की अवधारणा के चलते गुनाह बख्शे भी नहीं जाते आसानी से। एक ही जन्म का व्यापार होने के कारण उसका हिसाब-किताब भी चौकस रखना ही पड़ता है।

कहने का आशय यह कि आत्मा और पुनर्जन्म पर विश्वास करना बौद्धिक और तकनीकी चमत्कारों के इस युग में असंभवप्राय हो गया है। मगर क्या यह कुल मिलाकर घाटे का सौदा नहीं है? क्या सचमुच इन चमत्कारों और उनसे मिलने वाली सुख-सुविधाओं पर आत्मा और पुनर्जन्म (या 'रेज़रेक्शन' भी) निछावर कर दिए जा सकते हैं? ऐसा न भी हो, मेरे जैसे कुछ लोक-परलोक दोनों को साधना चाहने वाले संशयात्मा होने के बावजूद आत्मा को पूरी तरह न नकार सकने वाले लोगों को अर्जुन सरीखा संशय तो और भी उत्कटता के साथ घेरेगा ही। यह स्वाभाविक है। ऐसे प्राणियों का योगभ्रष्ट होना ही अवश्यंभावी लगता है। तब फिर? कृष्ण का दो-टूक असंदिग्ध उत्तर है — कोई भी साधना व्यर्थ नहीं जा सकती। किये हुए पुण्यों का फल भोगने के उपरान्त यह मानव जीव फिर से जन्म लेता है — पूर्वजन्म में अधूरी छूट गई साधना को पूरा करने के लिए। अब वह सिफ़र से नहीं, ठीक उस जगह से आगे की यात्रा करेगा जहां तक वह पूर्वजन्म में पहुंचा था और जहां पर उसे रुक जाना पड़ा था। और, अबकी उसे अधिक अनुकूल परिवेश मिलेगा ". . . शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते"। अर्थात् नर के नारायण स्वयं इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि पुरुषार्थ सिद्धि के लिए एक जन्म नाकाफ़ी है। अनेक जन्मों का अवकाश चाहिए, ताकि जहां तक पहुंचे थे, वहां से आगे बढ़ने का यत्न किया जा सके और पहने का किया-धरा, पूर्वार्जित अनुभव, भी काम आए। "यतते च ततो भूयः . . ."। पुनर्जन्म का और भला क्या प्रयोजन है? यही न कि हम एक शृंखला की कड़ी हैं; हमारे पास जाने कितने सारे पीछे छूट चुके चोलों के माध्यम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से अर्जित मुक्ति चेष्टा के अनुभवों की संपदा है। हमें हड़बड़ी मचाने की कोई जरूरत नहीं। हमने फिर से चोला बदला है जरूर; मगर चोले के भीतर जो यह सचमुच का 'मैं', यानी 'जीवात्मा' है, वह पहले भी था और आगे भी रहेगा जब तक वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर लेता। क्या इस पुनर्जन्म के विचार में सच्चा न्याय नहीं है, सच्चा सौन्दर्य भी नहीं है? जहां तक तुम पहुंचे थे अपने प्रयत्नों से, वह तुम् इस जन्म का मूलधन है। कितना ज़रूरी और पक्का आश्वासन है यह, जो नारायण अपने ही अंश नर को दे रहा है? क्या यह मिथ्या है, कपोल-कल्पना है?

न हो, इससे क्या? यह विश्वास मुझे आज सुलभ नहीं है। तो क्या सुलभ है? 'क्रामोसोम'? उससे जीवन की जटिल समस्या सुलझ जाती है? नहीं सुलझती। कम से कम मेरे जैसों के लिए तो नहीं ही सुलझती। हो सकता है, यह आत्मा और परमात्मा के अद्वैत की कथा केवल कथा हो; आत्मा और पुनर्जन्म भी, जिस तरह अपने यहां समझे और समझाए गए हैं, उस तरह अन्यत्र न देखे गए हों। किन्तु इससे भी क्या? मुझे जो आत्मकथा और आत्मविश्वास चाहिए वह महज़ एक भारतीय होने के नाते नहीं, समूचे मानवीय विश्व का नागरिक होने के नाते चाहिए। यह समूची मानवजाति मेरी बिरादरी है, मेरा गोत्र है; मैं किसी एक क़बीले से बंधा हुआ नहीं। ये सारे पुराण-इतिहास और ज्ञान-विज्ञान सब मेरी ही आकांक्षा और मेरी ही जिज्ञासा के प्रतिफलन नहीं तो क्या हैं? विविध धर्मों और संस्कृतियों के बारे में भी यही बात सच होनी चाहिए। तब फिर उनमें इतना विग्रह क्यों है? महाभारत की वह उक्ति यहां मुझे बरबस याद आ रही है कि 'जो धर्म दूसरे धर्म को बाधित करता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। धर्म तो वही है जो दूसरे धर्मों का अविरोधी हो।' बात बिलकुल समझ में आने वाली है। मनुष्य के आविष्कृत सत्य को मनुष्य के ही द्वारा आविष्कृत अन्य सत्यों का विरोधी नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे वस्तुतः एक ही चेतना के प्रतिफलन हैं। सामंजस्य की खोज इसीलिए तो आवश्यक है। नानात्व की अनुभूति तो सहज-सामान्य है पर एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की सर्वोपरि मनुष्यता है। स्पष्ट ही, यह अनुभूति साधना-लभ्य है और यही मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है; भले वह उतना सुगम और सामान्य न लगे। पर सुगम और सामान्य क्या होता है? क्या मनुष्य की पहुंच वहीं तक है? क्या मनुष्य के पास इंद्रियों द्वारा देखे-सुने जान वाले इस विश्व प्रपंच के सिवा और कुछ देखने की सामर्थ्य और साध नहीं हैं? इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है; और बुद्धियोग भी मात्र 'रैशनलिज्म' नहीं है। बुद्धिवाद की उस विडम्बना को क्या हम अक्सर ही महसूस नहीं करते जिसमें समस्त नैतिक आचरण का स्रोत और प्रमाण माना जाने वाला 'रीज़न' ग़लत को सही और अनर्थ को अर्थ साबित करने के उपकरण की तरह काम आने लगता है? किन्तु यहां बुद्धिवाद की नहीं बुद्धियोग की बात करना अभीष्ट है। बुद्धियोग तो 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' की अनुभूति कराता है। उस अनुभूति में, जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सबके एकत्व की अनुभूति है। क्या भक्तियोग भी अंततः उसी अपृथक्त्व की साधना नहीं है? भागवत का एक श्लोक यहां अनायास ही स्मरण हो आया है—

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥

अर्थात् तन-मन-धन, मन-वचन-कर्म से जो भी तथाकथित अपनों के लिए मनुष्य करता है — वह अपने को औरों से पृथक् मानकर किये जाने के कारण ही असत् हो जाता है। जबकि उन्हीं-उन्हीं साधनों से अपृथक्ता यानी एकत्व की दृष्टि से जो कुछ किया जाता है, वह सत् हो जाता है। इसलिए वह सबके मूल को सींचने वाला है।

लगता तो है कि ऐसी ही भक्ति, ऐसी ही बुद्धि, ऐसी ही अनुभूति हमें अपनी आत्मा का पता देने वाली, हमें अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित करने वाली बुद्धि और अनुभूति होनी चाहिए। ऐसी अनुभूति और उसकी कथा — सबके मूल को सींचने वाले कर्म और चिंतन और सृजन की कथा ही — सर्वनिष्ठ आत्मा की कथा हो सकती है, और है।

F-3/2, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
भोपाल - 462 002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अद्वैत वैदान्तिक कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष

नारायण शास्त्री द्राविड़

आदि शंकराचार्य प्रवर्तित अद्वैत वेदान्त विश्वमिथ्यात्व पुरस्कारक दर्शन है। अपने एक प्रकरण ग्रंथ में शंकराचार्य ने यह बात स्पष्ट रूप से एक श्लोक में बतलायी है। श्लोक यह है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

'विश्व' शब्द विश्व तथा विश्वान्तर्गत सभी चराचर पदार्थों-प्राणियों जिनमें मनुष्य का भी समावेश है, तथा उनके अनंत क्रियाकलापों का वाचक है। ये सब पदार्थ मिथ्या हैं तथापि स्वप्नावस्था में प्रतीयमान आभासमय पदार्थों के समान ही ये व्यावहारिक स्थिति में सत्य प्रतीत होते हैं। विश्व की इस प्रातीतिक सत्ता का विलय ब्रह्मानुभव से घटित होता है। अद्वैत सिद्धांत के अनुसार मनुष्य-जीवन का अंतिम लक्ष्य विश्व के अज्ञाननिर्मित आभासमय बंधन से मुक्त होकर परमसत् ब्रह्म के अनुभव में विलीन होना ही है। इस प्रकार विश्व को असत्य प्रतिपादित करने वाले अद्वैत वेदान्त पर प्राचीन काल में रामानुज, मध्व, भास्कर आदि अनेक वेदान्ताचार्यों एवं अन्य विद्वानों ने तथा अर्वाचीन काल में अधिकांश यथार्थवादी सामाजिक प्रवृत्ति के विचारकों ने तरह तरह के आक्षेप उपस्थित किये हों तो यह बात विस्मयजनक नहीं है। यह बात सच है कि शंकरोत्तरकालीन अनेक अद्वैत संप्रदाय के अनुयायी विद्वानों (श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन आदि) ने अद्वैत पर किये गये आक्षेपों का विस्तार के साथ खंडन अपने ग्रंथों (**खंडनखंडखाद्य, तत्त्वप्रदीपिका, अद्वैत-सिद्धि**) में प्रस्तुत कर अद्वैत सिद्धांत की प्रस्थापना की है। लेकिन यह प्रस्थापना निषेधात्मक ही होने से मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में कोई भी उपयुक्त निष्कर्ष इस से प्राप्त नहीं होता। अद्वैत पुरस्कारक विद्वानों को इस निष्कर्ष की आंतरिक विसंगति का यथावत् प्रत्यय या चिंता है ऐसा उनके कथनों से प्रतीत नहीं होता। क्या मनुष्य-जीवन की अयथार्थता का अनुभव कर उसके विलय के लिए ही जीवन-यापन करना जीवन का लक्ष्य हो सकता है? यदि हाँ, तो जीवन में किसी बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। लेकिन स्वयं शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए भी मनुष्य के विविध कर्त्तव्यों को निरर्थक कहीं नहीं कहा। अपने **'मनीषा पंचक'** नामक एक सुन्दर उपदेशात्मक स्तोत्र के प्रारंभ में ही शंकर कहते हैं कि ('वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म अनुष्ठीयताम्। यानि वेदादि धर्मग्रंथों का नियमित अध्ययन तथा उन ग्रंथों में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपदिष्ट कर्मों का यथावत् आचरण करना साधक के लिये आवश्यक है।') अन्यत्र भी शंकर मनुष्य-जीवन तथा विश्व की सत्यता का उल्लेख करते हुए बौद्धों के 'विज्ञान मात्र सत्यतावाद' का खंडन करते हैं। यह कुछ विचित्र सी बात लगती है। इस विचित्रता का स्पष्टीकरण शंकराचार्य ने त्रिविध सत्य के अपने एक अन्य सिद्धांत के द्वारा प्रस्तुत किया है। ये त्रिविध सत्य पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक ये हैं। इनमें पारमार्थिक सत्य निरपेक्ष, कूटस्थ सत्य है। अन्य दो सत्य सापेक्ष सत्य होने के कारण परमार्थतः असत्य अतः आभास रूप हैं। व्यवहार की स्थिति में व्यावहारिक सत्य पूर्णतया परम सत्य ही है और प्रातिभासिक सत्य भी प्रतिभास की विद्यमानता में परम सत्य ही है। अद्वैतवादी विद्वानों ने अद्वैत सिद्धांतों के निषेध पक्ष के समर्थन तथा स्पष्टीकरण पर अत्यधिक ज़ोर डाला लेकिन व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्यों की सापेक्ष सत्यता के समर्थक इन सिद्धांतों के विधिपक्ष के स्पष्टीकरण की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया।

अद्वैतवेदान्त का विधि पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसका निषेध पक्ष। इस तथ्य की प्राचीन काल के अद्वैतीय विद्वानों ने उपेक्षा सी कर दी है। शंकराचार्य व्यावहारिक सत्य को कितना महत्त्व देते हैं यह बात उनके बौद्धमत-खंडन के प्रसंग में उभरकर सामने आती है। धर्मकीर्त्ति नामक बौद्ध पंडित के इस कथन पर कि "आंतरिक या विषयिरूप जो विज्ञान है वही बाह्य विषयों के समान विषयरूप से प्रत्येक विज्ञान में प्रतिभासित होता है" शंकराचार्य प्रतिवाद करते हैं कि यदि बाह्य जगत् ही न हो तो 'बाह्य के समान' इस कथन का कोई मतलब ही नहीं है। इसी प्रसंग में शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि बाह्य जगत् की आनुभविक सत्यता का अपलाप करना उचित नहीं है। शंकराचार्य की उक्तियों के समान उनका अनन्य साधारण कृतिशील जीवन भी, जो समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये पूर्णतया समर्पित था, इस बात का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है कि शंकराचार्य व्यावहारिक सत्य की सापेक्ष सत्यता को परमार्थ सत्य की निरपेक्ष सत्यता के समान ही विचारार्ह मानते हैं।

यही कारण है कि विश्वमिथ्यात्ववादी होने पर भी अद्वैत वेदांतदर्शन भारतीय विचार-परंपरा में एक समन्वयवादी दर्शन माना जाता है। प्रस्तुत लेख में हम प्रमुख अद्वैत सिद्धांतों के समाज-जीवन से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण किंतु विद्वानों के द्वारा उपेक्षित निष्कर्षों की चर्चा के द्वारा यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि अद्वैत एक परिपूर्ण दर्शन है। इस चर्चा के पूर्व यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि परमार्थ के सम्बन्ध में जो सिद्धांत अद्वैत में प्रस्थापित किये गये हैं वे सब सापेक्ष रूप से व्यावहारिक सत्य या जगत् के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं। पारमार्थिक स्तर पर जैसे ब्रह्म पूर्ण सत्य है वैसे ही व्यावहारिक स्तर पर जगत् पूर्ण सत्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिपादित बातें जगत् पर भी लागू मानी जा सकती हैं। ब्रह्म की सत्ता ही विश्व की सत्ता है। विश्व की अपनी कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं है। इस कारण ब्रह्म में किसी प्रकार के 'द्वैत' यानि विरोध, संघर्ष या भेद की संभावना नहीं है। यह सिद्धान्त अद्वैती दार्शनिकों ने भेद की असत्यता सिद्ध कर प्रस्थापित किया है। भेद का न स्वतंत्र अस्तित्व संभव है न वस्तुओं के स्वरूप के रूप में ही भेद को सत् माना जा सकता है। इन निष्कर्षों को अनेक तर्कों के द्वारा अद्वैतियों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ इन तर्कों की हम चर्चा नहीं करेंगे। भेद की असत्यता प्रस्थापित मानकर अद्वैत का सिद्धांत जगत् को कैसे लागू किया जा सकता है यही यहाँ हम देखेंगे। वैसे तो जगत् में सर्वत्र नाना प्रकार के भेद ही दृग्गोचर होते हैं, लेकिन अनंत नानाविध पदार्थों की समष्टि के रूप में यदि जगत् का हम विचार करें तो इस समष्टि में किसी भी भेद का स्वतंत्र रूप से अस्तित्व हमें प्रतीत नहीं होगा। इस कारण भेद को समष्टि में किसी भी प्रकार के द्वैत या संघर्ष का (अनिवार्यतया) जनक नहीं माना जा सकता। हाँ, यदि भेद प्रत्येक वस्तु (जड़ अथवा चेतन) का स्वभाव ही हो तो भेद संघर्ष या विरोध का जनक हो सकता है। लेकिन यह बात तर्कों से अद्वैत वेदांतियों ने निरस्त कर दी है। भेद न वस्तु-स्वभाव है न वस्तुघटक। वस्तु की स्वयं पूर्णता के अज्ञान से ही भेद की भ्रांत धारणा उत्पन्न होती है। भेद असत् होने से विरोध, संघर्ष आदि भी असत् हैं। मनुष्य-समाज भी एक समष्टि होने के कारण उसे भी भेद-घटित मानना तर्कसंगत नहीं है।

समाज-रूप समष्टि और समाजघटक अनेकानेक व्यक्ति इन का सम्बन्ध वैसा ही मानना चाहिये जैसे सूर्य और उसकी प्रकाश-रश्मियों का। सूर्य को प्रकाशमान पिंड कह सकते हैं और प्रकाश भी। समाज के इन दो रूपों में फर्क करना भ्रांति का परिणाम है। जो लोग धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ण, भाषा, देश आदि के आधार पर समाज में द्वैत या संघर्ष का निर्माण करते हैं वे समाज के वास्तविक समष्टि-रूप स्वरूप को या तो समझ ही नहीं पाते या समझ कर भी जान-बूझकर इस की अनदेखी करते हैं। अद्वैत के इस मूलभूत सिद्धान्त का समर्थन वेदान्त के एक उपसिद्धान्त के द्वारा भी किया जा सकता है। यह उपसिद्धान्त जाति या वस्तुओं के धर्म या स्वभाव की विवेचना से संबद्ध है और उसका प्रतिपादन वेदान्त में वैशेषिकसम्मत पदार्थ-विभाग के खंडन के प्रसंग में किया गया है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण और कर्म इन स्थूल पदार्थों में (आकाश, काल तथा दिशा को छोड़कर) भिन्न-भिन्न जातियों की सत्ता स्वीकार की गयी है। जैसे पृथिवी में पृथिवीत्व, जल में जलत्व, रूप में रूपत्व, रस में रसत्व, कर्म में कर्मत्व आदि विभिन्न जातियों की सत्ता स्वीकार कर इन द्रव्य, गुण, कर्म आदि जाति के पदार्थों को एक-दूसरे से अलगाया गया है। अंग्रेज़ी में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नेचुरल काइंड इस संज्ञा से जो भेद प्रकट होता है लगभग उसी का स्पष्टीकरण जातीय भेदों को मानकर वैशेषिक दर्शन में किया गया है। ऐसा करना इस लिये आवश्यक है कि विभिन्न पदार्थों की पारस्परिक भिन्नता किसी भी परिस्थिति में अक्षुण्ण रहती है यह अभ्युपगम बहुपदार्थवादी यथार्थता के पुरस्कारक किसी भी दर्शन के लिये अनिवार्य है। इस अभ्युपगम का यह मतलब नहीं कि विजातीय पदार्थों में आंतरिक (समवाय जैसे) सम्बन्ध नहीं हो सकते। ऐसा सम्बन्ध द्रव्य, गुण, कर्म आदि में परस्पर हुआ ही करता है और इस सम्बन्ध के कारण प्रायः द्रव्य, गुण आदि में परस्पर तादात्म्य का भी भ्रम होता है। जैसे 'यह लाल कपड़ा है', 'यह नीला घड़ा है' जैसे सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले वाक्य कपड़ा, घड़ा इन द्रव्यों का लाल के साथ अभेद सूचित करते हैं। चूँकि कपड़ा और उसका रंग इन के बीच आंतरिक सम्बन्ध है (जिसके फलस्वरूप रंग कभी कपड़े से अलग नहीं रह सकता जब कि कपड़े का रंग बार-बार बदला जा सकता है) इस कारण इन दोनों की अभिन्नता की भ्रांति उत्पन्न होती है। जाति का भी द्रव्य, गुण, कर्म-रूप पदार्थों से आंतरिक सम्बन्ध होता है किंतु गुणादि के समान जाति न उक्त पदार्थों से अलग रह सकती है न उक्त पदार्थ ही जाति-विरहित होकर रह सकते हैं।

वैशेषिकों के जाति-भेदाधारित पदार्थ-विभाग का शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में जो खंडन प्रस्तुत किया है उसका मंतव्य इस प्रकार है : यदि गुण, कर्म, सामान्य आदि तथाकथित पदार्थ द्रव्य पर ही सदैव तथा अनिवार्यतया आधारित हों तों इन्हें द्रव्य से वस्तुतः भिन्न समझना तर्कसंगत नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण में हम देख आये हैं कि रंग को रंगीन द्रव्य से किसी भी हालत में अलग नहीं किया जा सकता किंतु एक रंग नष्ट हो जाने पर उस रंग से रंगी वस्तु उससे रहित हो अन्य रंग की हो जाती है। इस वास्तविकता को ठीक तरह समझने का प्रयास किया जाय तो रंग आदि गुण तथा वस्तुगत क्रियाओं को भी वस्तुओं की बदलती अवस्थायें मानना ही उचित प्रतीत होगा। जातियाँ गुणों के समान यद्यपि बदलती नहीं हैं तो भी उन्हें भी वस्तुओं की विशेष प्रकार की अवस्था के रूप में देखना ही उपयुक्त होगा (जैसे श्वासोच्छ्वास चेतन प्राणियों की आजीवन बनी रहने वाली अवस्था है भले ही उसमें समय-समय पर उतार-चढ़ाव होते रहते हों)।

इस प्रकार उठना, बैठना, चलना, दौड़ना, सोना, जागना, बोलना इन अवस्थाओं के समान ही सभी वस्तुओं के गुण, धर्म, सामान्य, विशेष आदि को मानकर पदार्थों के षड्विध या सप्तविध वर्गीकरण को ही अस्वीकार कर देना ग़लत नहीं होगा। यही नहीं, जाति आदि को वस्तुओं से भिन्न तथा उनसे नितांत भिन्न प्रकार के धर्म न मानकर उन्हें वस्तु-रूप ही मानना अधिक सही होगा। वैशेषिक दर्शन में जातियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को अविनाशी माना गया है जबकि जातिमान् वस्तुएं विनाशी होती हैं। ऐसे परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ परस्पर आंतरिक सम्बन्ध से सम्बद्ध कैसे हो पाते हैं इस बात का संतोषदायक स्पष्टीकरण वैशेषिक दर्शन नहीं दे पाया है। वेदान्त ने वस्तु और उसके गुण, जाति आदि के पारस्परिक भेद को जैसे अस्वीकार किया है वैसे ही उसने जाति की विशेष प्रकार की सत्ता को भी अस्वीकार कर दिया है। जैसे अन्य भेद औपाधिक हैं वैसे ही तथाकथित जातीय भेद भी औपाधिक हैं ऐसी वेदान्त की मान्यता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वैशेषिकों के पदार्थ-विभाग तथा जाति की अतिरिक्त नित्यपदार्थता का खंडन वेदान्त ने पारमार्थिक सत्य की भूमिका से नहीं किया है। ऐसा करना उचित भी न होता क्योंकि वैशेषिकों के लिये व्यवहार ही परमार्थ है। वे व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ता का भेद स्वीकार नहीं करते। पारमार्थिक भूमिका को अपनाने पर तो वेदान्त को जाति के समान जातियुक्त पदार्थों को भी असत् कहना पड़ता। शंकराचार्य का जाति आदि सम्बन्धी प्रतिवाद व्यावहारिक भूमिका पर से ही किया गया है। जाति को व्यक्ति से भिन्न तथा अविनाशी अतएव व्यक्ति से श्रेष्ठ मानना नितांत असंगत है ऐसा शंकराचार्य का मंतव्य प्रतीत होता है। जात्यादि से जात्यादि युक्त पदार्थ ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि वह जात्यादि का आधार है, जिनके बिना वे निराधार हो जायेंगे। वास्तविकता ऐसी होने पर भी मनुष्य अपनी सुविधा के लिये वस्तु-भिन्न जात्यादि की धारणाओं का ज्ञात या अज्ञातरूप से पुरस्कार करता है।

उक्त स्पष्टीकरण को ध्यान में रखने पर शंकराचार्य की मनुष्य-समाज में दृढ़मूल हुए नाना प्रकार के जाति, वर्ग, समुदाय, संप्रदाय-भेद के प्रति क्या भूमिका होगी यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य की प्रस्तावना में लोक-व्यवहार के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि धर्माचरण संपन्न करने के लिये भी मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि अपने जातीय स्वरूप को अपनाकर तदनुरूप कृति करनी पड़ती है। किंतु यह जातीय रूप मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। मनुष्य की असलियत तो इन सबसे बिल्कुल परे है। अपने दशश्लोकी नामक अत्यंत सुंदर आध्यात्मिक स्तोत्र में शंकराचार्य कहते हैं कि—

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा।
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः॥
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः।
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम॥
न वर्णाः न वर्णाश्रमाचार धर्माः।
न मे धारणा ध्यान योगादयोऽपि।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहानात्।
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

'न मैं शासक हूँ, न कोई शास्त्र है। न कोई शिष्य है न कोई शिक्षा है, न वर्ण है न आश्रम है, न आश्रम-धर्म हैं न ध्यान-धारणादि योगांग ही हैं। मैं-मेरा इत्यादि प्रतीतियाँ केवल अध्यासरूप हैं। इन प्रतीतियों का विलय हो जाने से केवल शिव-रूप ही शेष रह जाता है। इस रूप के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विकल्प संभव नहीं है।

यहाँ शंकराचार्य पारमार्थिक, निर्विकल्पक तथा सर्वविध भेद-रहित परम तत्त्व का ही वर्णन करते हैं।लेकिन व्यवहार में भी इस वर्णन को चरितार्थ किया जा सकता है और ऐसा करना आवश्यक है यह बात शंकराचार्य को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न भूमिकायें स्वीकार कर कार्यरत होना पड़ता है। अतः अविवेकी मनुष्य एक बार जिस भूमिका को अपनाता है उसी को परम सत्य समझ बैठता तथा चिपके रहता है। भूमिकाओं के औपाधिक तथा आपातिक स्वरूप को पहचानकर प्रत्येक भूमिका का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उस का परित्याग कर उसका अतिक्रमण करना यह व्यावहारिक समझदारी या विवेक का लक्षण है। जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय आदि भेद, जो प्रत्येक मानव-समुदाय में दिखाई पड़ते हैं वे निष्प्रयोजन तो नहीं हैं। उनके तात्कालिक उपयोग अनेक हैं लेकिन इन को सुसंस्कृत मनुष्य द्वारा जीवन का अविभाज्य अंग मानना न सही है न तर्क-संगत। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के पदार्थ-विभाग का खंडन कर जो तथ्य शंकराचार्य ने उद्घाटित किया है उसका सुसंस्कृत समाज-जीवन के लिये कितना महत्त्व है यह कोई भी समझ सकता है।

द्रव्याधारित गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की स्वतंत्र सत्ता का निषेध कर द्रव्य की स्वतंत्र तथा निरपेक्ष सत्ता का समर्थन करते हुए शंकराचार्य ने एक और महत्त्वपूर्ण सत्य को सूचित किया है। वह सत्य यह है कि जाति, संप्रदाय आदि की अपेक्षया मानव-व्यक्ति कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि सभी उपाधियाँ इस व्यक्ति पर ही आश्रित होती हैं। व्यक्ति सब तरह के भेदों का निर्माण करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनका अतिक्रमण भी करता तथा कर सकता है। व्यवहार के क्षेत्र में व्यक्ति ही परमार्थ सत्य है, जाति, संप्रदाय आदि केवल व्यक्ति की उपाधियाँ या आभास मात्र हैं। वेदान्त का एक अन्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपसिद्धांत उसका अनिर्वचनीयतावाद है। विश्व के आनुभविक स्वरूप का तर्क के द्वारा परिशीलन करने पर वह सदसद्विलक्षण या अनिर्वचनीय प्रतीत होता है ऐसा वेदान्त का मन्तव्य है। वेदान्त के परमत-खंडनपरक जो अनेक ग्रंथ हैं (जैसे **तत्त्वप्रदीपिका, अद्वैतसिद्धि, खंडनखंडखाद्य** आदि) इनमें कार्यकारण भाव, गुण-गुणिभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, सम्बन्ध सम्बन्धिभाव जैसे संप्रत्ययों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का (जिन से अवगुंठित रूप से ही हम वस्तुमात्र का अनुभव प्राप्त कर उन्हें द्रव्य, गुण, कार्य, कारण, व्याप्य, व्यापक आदि संज्ञायें प्रदान करते तथा पहचानते हैं) विस्तार के साथ खंडन कर यह समझाने का प्रयास किया गया है कि विश्व के स्वरूप का किसी भी संप्रत्यय के द्वारा यथावत् आकलन करना संभव नहीं है। ये सब संप्रत्यय ही अतार्किक हैं। किसी भी संप्रत्यय का तर्कसंगत लक्षण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उदाहरण के तौर पर कार्य-कारण भाव के सर्वपरिचित तथा सभी वैज्ञानिकों के द्वारा पुरस्कृत संप्रत्यय को लें। क्यों कार्य और कारण समझी जाने वाली वस्तुएं वस्तुतः कार्य और कारण हो सकती हैं? बीज से अंकुर निकलता है अतः बीज को कारण और अंकुर को कार्य समझा जाता है। लेकिन ऐसा समझने वाला कोई भी बीज और अंकुर को अभिन्न नहीं समझता। बीज बीज है और अंकुर अंकुर है, अर्थात् ये पदार्थ एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि दो अत्यंत भिन्न पदार्थ परस्पर कार्यकारण भावापन्न हो सकते हों तो पत्थर भी अंकुर का कारण् क्यों नहीं होता? पत्थर और अंकुर की भिन्नता भी बीज और अंकुर की भिन्नता के जैसी ही है। इस पर कोई कह सकता है कि बीज पत्थर के समान अंकुर से नितांत भिन्न नहीं है या बीज का अंकुर के साथ कुछ सम्बन्ध हमेशा (उसकी उत्पत्ति के पूर्व भी) बना रहता है। ये दोनों बातें तर्कतः समर्थनीय नहीं हैं। न बीज अंकुर से भिन्न होते हुए उससे अंशतः अभिन्न हो सकता है न वह किसी प्रकार अंकुर से उसके उत्पन्न होने के पूर्व ही सम्बद्ध रह सकता है। कार्य और कारण को अभिन्न मानकर इन कठिनाइयों को टालने का प्रयास किया जाय तो अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इस प्रकार सभी संप्रत्ययों का परीक्षण तथा खंडन उपरिनिर्दिष्ट वेदान्त ग्रंथों में किया गया है। इस खंडन-प्रकिया का निष्कर्ष यह है कि विश्व भले ही अनुभव-विषय हो लेकिन उस की वास्तविकता क्या है इस बात का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

यह बात हमारी बुद्धि या विचारशक्ति की न्यूनता की निदर्शक नहीं है। मनुष्य से कई गुना अधिक बुद्धिमान प्राणी यदि कोई हो तो वह भी विश्व की वास्तविकता का आकलन नहीं कर सकता। इसका वास्तविक कारण यह है कि विश्व का सत्य-स्वरूप सब तरह के संप्रत्ययों से परे है। उसका कोई लक्षण या निर्धारण ही संभव नहीं है। यह बात पारमार्थिक सत्य को पूर्णतया लागू है। लेकिन अन्य उपर्युक्त निष्कर्षों के समान यह विश्व को (जो केवल व्यावहारिक सत् है) भी लागू माना जा सकता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में इस निष्कर्ष को इन शब्दों में उपस्थित कर सकते हैं कि विश्व या विश्वान्तर्गत किसी भी पदार्थ का कोई लक्षण असंभव है। लक्ष्य-लक्षण-भाव वेदान्त के विचार में एक अतार्किक बात है। ब्रह्म के समान अनंत तत्त्व ही क्या, सामान्य से सामान्य पदार्थ भी लक्षणार्ह नहीं है। यह कथन अतीव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विचित्र लगेगा किन्तु विचार करने पर उसके पीछे छिपे महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता लग सकता है। वह तथ्य पीछे बताये गये इस तथ्य से ही निष्कृष्ट होता है कि कोई भी द्रव्य या वस्तु अपने गुण, कर्म, सामान्य आदि धर्मों का आधार या अधिष्ठान होने के कारण उसकी सत्ता इन धर्मों की सत्ता का अतिक्रमण करती है। यही नहीं, धर्मों की सत्ता धर्मी की सत्ता में एक प्रकार से निःशेष हो जाती है। धर्मों का अस्तित्व पूर्णतया धर्मि-सापेक्ष अतएव धर्मी में अंतर्भूत ही होता है। यह बात सही हो तो लक्षण, निर्वचन आदि की प्रक्रियायें लक्ष्य वस्तु के स्वरूप की विपर्यासक ही समझनी होंगी। एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है। मनुष्य का लक्षण 'एक विचारशील प्राणी' ऐसा सामान्यतः समझा जाता है। इस लक्षण में मनुष्य के एक गुणविशेष का निर्देश किया गया है। यह गुण मनुष्येतर प्राणियों या पदार्थों में नहीं होता ऐसा माना जाता है। इस लक्षण के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते हैं। जैसे 'क्या विचारशीलता एक ही प्रकार या स्तर की सब मनुष्यों में होती है? यदि नहीं, तो विचारशीलता का निम्नतम स्तर क्या मनुष्येतर प्राणियों में विद्यमान नहीं होता? उक्त प्रश्नों से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य विचारशील होने के सिवाय और कुछ नहीं है? यदि मनुष्य में अन्य अनेक बातें कम-अधिक मात्रा में दिखाई देती हों (भले ही वे कुछ ही मनुष्यों में कुछ ही परिस्थितियों में प्रकट होती हों) तो विचारशीलता को मनुष्यमात्र का लक्षण मानना कहाँ तक सही होगा? यदि मनुष्य की अन्य छोटी-बड़ी विशेषताओं को उसकी विचारशीलता की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मान लिया जाय तो क्या विचारशीलता को ही किसी अन्य अधिक व्यापक विशेषता की आंशिक अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता? इन सब प्रश्नों के मूल में जो एक ही अनुपपत्ति है वह यह है कि मनुष्य या अन्य किसी पदार्थ को उसके गुण-धर्मों के द्वारा लक्षित करना एक निष्फल प्रयास है।

वस्तु और उसके गुण-धर्म परस्पर नितांत भिन्न होते हैं। ऐसे परस्पर भिन्न पदार्थों में से एक को दूसरे का लक्षण मानना अतर्कसंगत है। यदि भिन्न पदार्थों का परस्पर साहचर्य सार्वकालिक-सार्वदैशिक अर्थात् निरपेक्ष हो तो शायद इन दोनों में लक्ष्य-लक्षण भाव मान लिया जा सकता है। लेकिन ऐसे निरपेक्षतया सहचरित कोई दो या अधिक पदार्थ हो ही नहीं सकते। कारण-सामग्री और कार्य इनके बीच निरपेक्ष साहचर्य की कोई कल्पना कर सकता है। लेकिन इन दोनों में क्षणमात्र ही साहचर्य हुआ करता है (कार्य की उत्पत्ति के क्षण में ही यह साहचर्य होता है)। यदि कारण-सामग्री अपने कार्य की उत्पत्ति के बाद भी बनी रहे तो कार्य पुनः पुनः उत्पन्न होते रहेंगे। इस कारण लक्ष्य के साथ कोई भी तथाकथित लक्षण निरपेक्ष रूप से सहचरित नहीं हो सकता। अतः वह लक्ष्य का वास्तविक लक्षण भी नहीं माना जा सकता। लक्ष्य-लक्षण भाव की यह तार्किक असंगति है। लेकिन इस के द्वारा जो तथ्य वेदान्ती विद्वानों ने प्रकाश में लाया है वह व्यावहारिक दृष्टि से भी असामान्य महत्त्व का है। वह तथ्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने में अनंत है। उसके वास्तविक स्वरूप का किसी भी लक्षण के द्वारा परिच्छेद असंभव है। लक्षण-लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक भले ही हों वे उसकी सत्ता के निर्धारक नहीं हो सकते। वास्तव में बाद में उसका अपवारण कर ही लक्ष्य की प्राप्ति संभव है ऐसा वेदान्त का कथन है। इस प्रक्रिया को 'अध्यारोपापवाद न्याय' के नाम से वेदान्त में पहचाना जाता है। लक्ष्य तक क्रमशः पहुँचने की यह प्रक्रिया है जिसमें क्रमशः स्थूलतम, स्थूलतर और स्थूल लक्षणों का लक्ष्य पर प्रथम आरोप तदनन्तर परित्याग कर स्वयं लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है।

वेदान्त के इस अनिर्वचनीयता-सिद्धान्त का मनुष्य के लौकिक उत्कर्ष के लिये एक प्रेरणादायक विचार के रूप में असामान्य महत्त्व है। यही नहीं, समग्र विश्व के संभाव्य अनंत विकास की सूचना भी इस सिद्धान्त में हमें प्राप्त होती है। अर्वाचीन अस्तित्ववाद पुरस्कृत यह विचार कि मनुष्य का व्यक्तित्व अनंत संभावनाओं का संघात है, मनुष्य-व्यक्ति कभी भी 'बन चुका' नहीं होता तथा किसी भी स्थिति से वह आगे बढ़ सकता है केवल मृत्यु जैसी परिच्छेदक स्थितियों को छोड़कर, वेदान्त के अनिर्वचनीयता-सिद्धान्त में गतार्थ हो जाता है। यह सिद्धान्त अस्तित्ववाद से कहीं आगे बढ़ कर वस्तुमात्र को ही अनंत संभावनाओं का संघात मानने से नहीं हिचकिचाता। विश्व का निर्माण करने वाली परब्रह्म की माया इसी कारण 'अघटित घटना पटीयसी' कही गयी है। प्रत्येक वस्तु जड़ या चेतन, स्थावर या जंगम परब्रह्म-रूप है अतः उसके विकास की संभावनायें अनंत हैं। इन संभावनाओं का कोई भी स्थिति (जिसे अस्तित्ववादी बाउंडरी कंडीशंस् कहते हैं) परिच्छेद नहीं कर सकती।

वस्तुमात्र की अनिर्वचनीयता तथा अलक्षणीयता का यह सिद्धांत आधुनिक विज्ञान की मूलभूत वस्तु-स्वरूप विषयक धारणा से बहुत कुछ मिलता जुलता सा प्रतीत होता है। आणविक भौतिकी में अणुओं के सम्बन्ध में जो मौलिक अनुसंधान किये गये हैं उनके फलस्वरूप परमाणु के स्वरूप और गति आदि के बारे में जो जानकारी प्राप्त हुई है उसके अनुसार परमाणु एक अनिर्धार्य वस्तु बन गया है जिसको जड़द्रव्य तथा ऊर्जा इन दोनों रूपों के द्वारा पहचाना जा सकता है। आगे चलकर परमाणु के स्वरूप में चेतना का भी समावेश आवश्यक माना जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। परमाणु की अनिर्धार्यता परमाणु से क्रमशः उत्पन्न हुए समग्र विश्व को भी अनिर्धार्य बना देती है। साथ ही यह इस संभावना को जन्म देती है कि विश्व की किसी भी वस्तु में अनंत निर्मितिशीलता है। यह समझना सही नहीं है कि हरेक वस्तु का जड़ होने के कारण एक विशिष्ट स्वभाव या धर्म है जिसका वह वस्तु अतिक्रमण नहीं कर सकती। वस्तुओं के दृश्य स्थूल रूप में ही ऐसा अपरिवर्तनीय स्वभाव हुआ करता है। लेकिन यह स्थूल रूप वस्तुओं के वास्तविक रूप पर इंद्रियों द्वारा आरोपित रूप है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेदान्त के कुछ अन्य सिद्धान्त (जैसे ज्ञान से मुक्ति या स्वातंत्र्य की प्राप्ति, कर्म-संन्यास की ज्ञान-प्राप्ति के लिये आवश्यकता आदि) भी दर्शन की सामाजिक या समाज-कल्याणकारी भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। वेदान्त के प्राचीन और अर्वाचीन अध्येता विद्वान वेदान्त-सिद्धान्तों की दार्शनिक चर्चा में ही उलझे रहे हैं। इन सिद्धान्तों का समाज-जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है या पड़ सकता है (यदि उन्हें सही ढंग से लोगों के सामने प्रस्तुत किया जाय) इस बात की ओर स्वामी विवेकानन्द के सिवा शायद अन्य किसी वेदान्ती ने ध्यान ही नहीं दिया। आज वेदान्त-सिद्धान्तों के पुनरुज्जीवन की नितान्त आवश्यकता है और इसके लिये एक नये दृष्टिकोण से वेदान्त का पुनरध्ययन अपेक्षित है। इस लेख में इस अध्ययन का दिशानिर्देश मात्र किया गया है।

प्रोफेसर कोलोनी,
हनुमान नगर,
नागपुर – 440009

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद : प्रोफेसर द्राविड़ के उत्तर पर एक दृष्टि

उन्मीलन वर्ष 8 अंक 2, 1992 के अंक में प्रो. नारायणशास्त्री द्राविड़ ने उनके लेख 'भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद' पर मेरे आक्षेपों का जो उत्तर दिया है वह चूंकि मुझे अत्यधिक अस्पष्ट प्रतीत हुआ अतः स्पष्टीकरण के निवेदन के साथ उनके उत्तर में मुझे प्रतीत होने वाली विसंगतियों का उल्लेख करना चाहता हूं।

1. प्रो. द्राविड़ ने कथित उत्तर के अन्त में टिप्पणी की है कि "राव को यह बात स्वीकार्य नहीं है कि सांख्य दर्शन का परम्परा से हटकर कोई अर्थ लगाया जाय, जबकि यह सर्वविदित है कि पारम्परिक अर्थ में अनेक आन्तरिक विसंगतियां हैं और जड़-चेतन भेद का संतोषदायक स्पष्टीकरण भी नहीं है।" प्रो. द्राविड़ के आक्षेप को मैं अस्वीकार करता हूं और यह मानता हूं कि जब हम सांख्य दर्शन को प्रस्तुत कर रहे हों तो हमें सांख्य-परम्परा के अनुरूप ही सांख्य दर्शन को प्रस्तुत करना चाहिए। यदि हमारी प्रस्तुति सांख्य-परम्परा से हट कर है तो वह भला सांख्य दर्शन कैसे कहा जाएगा? और तब सांख्य दर्शन को 'जड़वाद' कहने का भी क्या औचित्य रह जाएगा? जहाँ तक सांख्य ग्रन्थों या दर्शन की 'व्याख्या-परम्परा' का प्रश्न है हमारा यह निश्चित मत है कि उसमें दोष है जिसके कारण सांख्य-परम्परा में कुछ विसंगतियां और भ्रान्तियां जुड़ गई हैं। अतः व्याख्या आवश्यकतानुसार परम्परा से हटकर की जानी चाहिए। लेकिन प्रो. द्राविड़ का लेख और मेरी प्रतिक्रिया पर उनका उत्तर दोनों ही परम्परागत विसंगत व्याख्या पर आधारित हैं। पारम्परिक अर्थ में निहित 'विसंगत' व्याख्या की अनेक विसंगतियां हैं। जड़-चेतनभेद का संतोषदायक स्पष्टीकरण सांख्यकारिका 3,10 और 11 में निहित है। साथ ही सारी कारिकाएं और सांख्य दर्शन ही प्रकृति-पुरुष के विवेक या भेद स्पष्ट करने में निहित है। यदि इस पर भी भेद संतोषजनक नहीं है तो अवश्य हमारी अर्थग्रहण-परम्परा में कहीं दोष है। (कुछ दोषों की चर्चा और निराकरण का प्रयास मेरी पुस्तक **सांख्यप्रज्ञा** में विस्तार से किया जा चुका है, कृपया उस पर भी विचार करें)।

2. अपने प्रत्युत्तर के आरंभ में मेरे प्रथम आक्षेप को श्री द्राविड़ प्रस्तुत करते हैं, लेकिन उसका मतलब उन्होंने जो निकाला और जो उत्तर दिया वह मेरी प्रतिक्रिया से असम्बद्ध ही है। मेरा आक्षेप अचेतन प्रकृति में सोद्देश्यता के आरोपण पर था। अपनी प्रतिक्रिया के तीसरे, चौथे और पांचवें अनुच्छेद में बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने आक्षेप का मतलब मैंने स्पष्ट किया है। मैंने सप्रयोजन प्रवृत्ति और सोद्देश्य प्रवृत्ति में भेद करते हुए प्रकृति में सोद्देश्य प्रवृत्ति का ही निषेध किया था। मेरी जानकारी में **सांख्यकारिका** या सूत्रों में भी प्रकृति की प्रवृत्तियों को सादेश्य नहीं बल्कि सप्रयोजन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ही कहा गया है। मेरे आक्षेप का प्रो. द्राविड़ ने जो मतलब निकाला और उसमें 'पुनरुक्ति' और 'सहज संस्कार-मूलक प्रवृत्ति' के संभावित दोष का जो निराकरण किया वह उक्त आक्षेप के संदर्भ में अप्रासंगिक ही है। प्रकृति में अनात्मसंवेदी 'चेतना' की कल्पना का सांख्यकारिका या सूत्र में कहीं आधार नहीं है।

हाँ, वत्सविवृद्धिनिमित्तं—(57वीं कारिका) तथा औत्सुक्यनिवृत्यर्थं—(58वीं कारिका) के दृष्टान्तों के अर्थ को सही परिप्रेक्ष्य में न देख पाने से ऐसी भ्रान्ति अवश्य हो सकती है (हुई भी)। लेकिन यह व्याख्या की विसंगति है, सांख्य दर्शन की विसंगति नहीं।

3. प्रो. द्राविड़ के लेख के इस निष्कर्ष पर कि 'मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास कोई मतलब नहीं रखता' मेरी प्रतिक्रिया थी कि वह सांख्यसम्मत नहीं है। अपने इस अभिमत के लिए सांख्यकारिकाओं को ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हुए मैंने 'पुरुष को कैवल्य के लिए प्रयलशील' कहा। लेकिन 'तस्मान्न बध्यते'—कारिका की विसंगत व्याख्या-परंपरा के आधार पर प्रो. द्राविड़ लिखते हैं कि 'सांख्य मतानुसार पुरुष की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति की बात करना असंगत है। सांख्य मतानुसार पुरुष में न भोगार्थ न कैवल्यार्थ प्रवृत्ति होती है।" **सांख्यकारिका** की अनेक स्पष्ट उक्तियों के बाद भी ऐसा निष्कर्ष विचित्र प्रतीत होता है। क्या 17वीं कारिका में 'भोक्तृभाव और कैवल्यार्थ प्रवृत्ति' पुरुष में नहीं मानी गई? 37वीं कारिका स्पष्ट रूप से कहती है कि 'सर्व प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धि"। 'बुद्धि' पुरुष के भोग सिद्ध करती है, स्वयं बुद्धि भोक्ता नहीं। फिर 55वीं कारिका—"'अत्रजरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः"—क्या पुरुष के भोगार्थ प्रवृत्ति का निदर्शन नहीं है? माठर वृत्ति का जो उद्धरण श्री द्राविड़ ने अपने निष्कर्ष की पुष्टि में प्रस्तुत किया वह भी विचारणीय है—'न हि. . . किमपि कर्त्तव्यं अनुष्ठेयतया" के साथ ही 'सांख्यानां तत्त्वज्ञानं एव निश्रेयस् हेतुः' भी कहा है। इससे यही स्पष्ट होता है कि निश्रेयस् का हेतु कर्मानुष्ठान नहीं बल्कि 'तत्त्वज्ञान' ही है। इससे पुरुष की प्रयास-निरपेक्षता का अर्थ निकालना केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र होगा। आख़िर तत्त्वज्ञान और तत्त्वाभ्यास तो पुरुष के प्रयल ही हैं (कारिका-64) फिर स्वयं माठर के इस कथन को क्या कहा जाएगा कि 'दुःखानि सर्वाणि प्राप्नोति चेतनः पुरुष एवं प्रधानादीनामचेतनत्वात्। तस्मात्तस्यैव विज्ञानितया दुःखं न तु जडानां प्रधानादीनाम्।" वास्तव में अद्वैत वेदान्त के 'आत्मा' के लक्षणों को सांख्य के पुरुष पर आरोपित करके पुरुष के सांख्यसम्मत लक्षणों में विसंगति उत्पन्न की जाती रही है। यह व्याख्या-दोष है। इस विसंगति से मुक्ति के लिए सांख्य-परम्परा में प्रचलित व्याख्या से हट कर विचार करना होगा। वास्तव में इच्छा, प्रयल आदि त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकारों के बिना संभाव नहीं होते इसलिए बुद्धि या प्रकृति को प्रधान कहा जाता है। लेकिन केवल विकार मात्र में इच्छा, प्रयल आदि नहीं होते। और चेतना में भोक्तृभाव या कैवल्यार्थ प्रवृत्ति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभाव में इच्छा या प्रयत्न की सार्थकता भी नहीं होती। अन्यथा सृष्टिकाल में अपवर्ग भी संभव नहीं होता। जबकि सांख्य दर्शन में चेतन, जड़, इच्छा, प्रयत्न आदि सभी स्वीकार किये गये हैं, अतः इनमें परस्पर संबंधों की युक्तिसंगत व्याख्या की जानी चाहिए न कि इनका विलोप।

4. मेरी प्रतिक्रिया के एक भाग पर श्री द्राविड़ ने विचित्र टिप्पणी करते हुए एक असंगत बात कही है। वे लिखते हैं—'राव ने अपने वैयक्तिक मत के समर्थनार्थ 'कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च' इस सांख्यकारिकान्तर्गत वाक्य-खण्ड का ग़लत अर्थ लगाया है। व्याख्याकारों को सम्मत तथा वाक्यान्तर्गत शब्दों के अर्थों को जोड़ने से जो इस वाक्यखण्ड का अर्थ निकलता है वह यह है कि 'पुरुष के ही कैवल्य के लिए (न कि बुद्धि के कैवल्य के लिए) प्रकृति में प्रवृत्ति हुआ करती है। किसी भी कारिका में या उसकी व्याख्या में यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती कि पुरुष अपने भोग या अपवर्ग के लिए किसी भी प्रकार प्रवृत्त होता है।"

'कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च' को मैंने 17 वीं कारिका से उद्धृत किया था, जिसमें पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि में हेतुओं का उल्लेख है। वहाँ कैवल्य की प्रवृत्ति की जो प्रवृत्ति बुद्धि में नहीं पायी जाती वह पाये जाने के द्वारा पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया गया। अतः जो अर्थ श्री द्राविड़ ने प्रस्तुत किया वह उक्त कारिका में अनुपलब्ध है। उन्होंने किसी अन्य कारिका के भावार्थ को मेरे उद्धरण पर आरोपित कर दिया है। ऐसी त्रुटि क्यों हो गई—यह समझ पाना कठिन है। फिर इस 17 वीं कारिका में 'कैवल्यार्थ प्रवृत्ति' का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी यह कहना कि "पुरुष भोग या अपवर्ग के लिए प्रवृत्त होता है, ऐसा किसी कारिका में दृग्गोचर नहीं होता" विचित्र है।

5. सांख्य दर्शन के लिए जड़वाद नामकरण पर मेरी आपत्ति के उत्तर में प्रो. द्राविड़ ने ऐसा मत सांख्य पर आरोपित कर दिया जिसे सांख्य दर्शन का सामान्य जानकार भी सांख्य मत नहीं मान सकता। प्रो. द्राविड़ कहते हैं 'यदि जड़वाद वह दर्शन है जो मूलतत्त्व जड़ को मानकर चेतना को उसी का एक रूप माने तो सांख्य को जड़वादी कहने में आपत्ति क्यों? क्या प्रकृति जड़ नहीं है?" अपने इस कथन की विसंगति श्री द्राविड़ स्वयं समझ लेंगे, यदि वे ऐसे प्रमाण ढूँढ़ें जो यह प्रमाणित करें कि सांख्य चेतन-पुरुष को जड़ का ही एक रूप मानता है। प्रकृति का जड़ होना चेतना को उसका एक रूप निरूपित नहीं करता।

बी. कामेश्वर राव,
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग,
पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म.प्र.)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी – 1

12 फरवरी, 1995 को एक उन्मीलन-गोष्ठी हुई जिसमें मैंने श्री यशदेव शल्य की पुस्तक **समाज : दार्शनिक परिशीलन** के न्याय शीर्षक अध्याय में प्रतिपादित उनके विचारों की समीक्षा की। शल्य जी ने उस समीक्षा का उत्तर दिया। ये दोनों नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। बैठक में डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. के. एल. शर्मा, डॉ. (श्रीमती) योगेश गुप्ता तथा कुछ शोध-छात्रों ने भाग लिया और अपने विचार प्रस्तुत किये।

न्याय की अवधारणा : कुछ समस्याएं

श्री यशदेव शल्य ने अपनी पुस्तक **समाज : दार्शनिक परिशीलन*** में अन्य कई विषयों के साथ न्याय की अवधारणा पर भी विचार किया है। उनकी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि इस विचार के बीच कभी प्रत्यक्ष कभी अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती रहती है। फिर भी मुझे लगता है कि न्याय सम्बन्धी उनके मत को स्वतन्त्र रूप से भी देखा और समझा जा सकता है। मेरे अपने विचार की सुविधा के लिए मैं उनके न्याय सम्बन्धी इस अध्याय को दो भागों में विभाजित कर रही हूं, एक वह जिसमें उन्होंने अन्य मतों की आलोचना की है दूसरा वह जिसमें उनका अपना मत प्रतिपादित किया गया है। दोनों में मुझे समस्याएं जान पड़ी हैं और वे भिन्न-भिन्न किस्म की हैं वैसे शल्यजी का प्रयोजन मूलतः अन्य मतों की आलोचना नहीं है, और मेरा भी प्रयोजन यहां अन्य मतों के पक्ष में तर्क देना नहीं है।

लेख के आरम्भ में शल्यजी लिखते हैं कि 'न्याय अपने तत्त्व में अपर्याप्त है और उसे नैतिकता में कहीं गहरे प्रतिष्ठित होना चाहिए। न्याय के बारे में साधारण समझ यह है कि यह अर्हता के अनुसार दंड और पुरस्कार की निरपेक्ष व्यवस्था है।' शल्यजी को यह परिभाषा बहुत सीमित अंश में ही ठीक लगती है कि न्याय एक निरपेक्ष व्यवस्था है। लेकिन परिभाषा के दूसरे पक्ष-अर्हता के अनुसार दंड और पुरस्कार में जो सैद्धांतिक और व्यावहारिक कठिनाइयां हैं उनका उन्होंने विस्तार से उल्लेख किया है। इनमें से कुछ कठिनाइयां तो वास्तव में ही है, मैं यहां सिर्फ यह जोड़ना चाहती हूं कि उन समस्याओं पर कम से कम पाश्चात्य चिंतन-परम्परा में बहुत विस्तार से और गहन चिंतन हुआ है। इसलिए इस परिभाषा की विवेचना में जो प्रश्न शल्यजी ने उठाए हैं वे मैं समझती हूं कि ठीक उसी रूप में नहीं उठने चाहिएं, चाहे परम्परा में दिये गए समाधान उन्हें युक्तियुक्त नहीं भी जान पड़ें।

---

* प्रकाशक — रावत पब्लिकेशंस, दिल्ली-जयपुर 1993

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह मुझे बहुत साफ तौर पर लगता है कि न्याय का कोई भी सिद्धांत ऐसा नहीं है, न हो सकता है, जो इसे मूलतः सामाजिक सद्गुण न मानता हो। न्याय नैतिक पद ही है इसलिए "न्याय को नैतिकता में गहरे प्रतिष्ठित होना चाहिए" यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता। यहां विचार करने योग्य प्रश्न यही बनता है कि न्याय की कोई एक अवधारणा किस नैतिक मूल्य-दृष्टि को आधार मानते हुए प्रतिपादित की गई है और वह नैतिक दृष्टि ठीक है या नहीं। न्याय की जिस परिभाषा का शल्यजी ने आरंभ में उल्लेख किया है वह न्याय के बारे में सीमित सी बात है, इस अर्थ में कि वह न्याय के बारे में एक संपूर्ण विचारतंत्र का एक अंश मात्र होती है। न्याय को अर्हता के अनुसार पुरस्कार व दंड की व्यवस्था के रूप में देखने से पहले सदैव यह देखना ज़रूरी होता है कि व्यक्ति की अर्हता का निर्धारण कैसे हो? भारतीय शास्त्रीय चिंतन-परम्परा में इस प्रश्न का समाधान एक पूर्वस्थापित सामाजिक व्यवस्था की कल्पना पर टिका हुआ है जो व्यवस्था स्वयं वेदों में अपना आधार पाती है और इस रूप में तात्त्विक और मूल्यात्मक दृष्टि से अंतिम रूप में प्रमाणित समझी जाती है। आधुनिक पाश्चात्य चिंतन-परम्परा इस प्रश्न को ऐसे बढ़ाती है कि ऐसी एक सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें प्रत्येक को अपनी योग्यता को अधिकतम विकसित और व्यक्त करने का अवसर मिले। यह अवधारणा पुनः कुछ मूल्यों की स्वीकृति को पूर्वापेक्षित करती है कि सभी व्यक्ति समान और स्वतन्त्र हैं और तदनुसार न्याय ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें सभी व्यक्तियों को अपनी संभावनाओं के विकास का अवसर मिले और तदुपरांत व्यक्ति वह पा सके जो उसने अर्जित किया है। न्याय का प्रत्येक सिद्धांत इस रूप में नैतिक दृष्टि पर ही आधारित होता है। वह दृष्टि युक्त या अयुक्त हो सकती है, यह दूसरी बात है।

एक और बात यह है कि उपर्युक्त परिभाषा की विवेचना में शल्यजी यह मानकर चलते हैं कि जो सैद्धांतिक प्रश्न न्याय की दृष्टि से 'दंड' के प्रत्यय के बारे में उठते हैं वे ही 'पुरस्कार' के बारे में भी उठाए जा सकते हैं। वास्तव में तो उन्होंने "अर्हता के अनुसार पुरस्कार" इस पद की समस्या पर अधिक विचार किया है। मुझे लगता है कि न्याय का दंड से सीधा संबंध है, पुरस्कार से नहीं है। संभवतः इसका कारण यह है कि कौन-सा कार्य किसी सामाजिक संदर्भ में अधिक ग़लत है जो कि सीधे से दूसरों को प्रभावित करता है, इसे तय करना अपेक्षाकृत आसान है। चूंकि न्याय मूलतः एक सामाजिक सद्गुण है इसलिए वह उन कार्यों पर दंड की व्यवस्था करता है जो प्रत्यक्ष रूप से दूसरों को नुकसान पहुंचाते हैं। इसीलिए दंड पर विचार करते हुए अपराध की गुरुता, अपराधी व्यक्ति की परिस्थितियां, तदनुसार दंड का स्वरूप और उसकी मात्रा पर विचार किया जाता है लेकिन ठीक यही बात पुरस्कार के बारे में नहीं की जा सकती, क्योंकि जो शुभ है उसके गुणात्मक और मूल्यात्मक स्तर-भेद कहीं अधिक हैं। अतएव उनका निर्धारण अधिक कठिन होता है। इस संदर्भ में इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अंतर को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि दंड का संबंध 'अनुचित' से है जबकि पुरस्कार का संबंध उचित से न होकर उत्कृष्टता से या उस शुभ से होता है जो प्रशंसनीय हो। इस रूप में दंड और पुरस्कार ठीक विपरीत पद नहीं हैं। न्याय की पहली समस्या 'अनुचित' नहीं होने देने से है क्योंकि वह समाज के संधारण के लिए ज़रूरी है। राज्य यदि पुरस्कार की व्यवस्था करता भी है तो उसे मात्र प्रोत्साहन के रूप में ही देखा जा सकता है। वह व्यक्ति की योग्यता के अनुपात में ठीक भी है यह अपेक्षा नहीं की जा सकती। इस संदर्भ में और कई प्रश्न उठते हैं जिनकी चर्चा अभी अवांतर होगी। मैं उस बिन्दु पर आती हूं जहां से शल्यंजी का अपना मत-प्रतिपादन आरंभ होता है और जिसे वे रॉल्स से अपना मतभेद बताते हुए स्थापित करते हैं।

जब हम न्याय की बात करते हैं तो हमारा संदर्भ क्या होता है, इस पर शल्यजी कहते हैं कि "न्याय के संदर्भ की सावयव व्यापकता इस पर निर्भर करती है कि हम अपने कुटुंब को कहां तक व्यापक या अव्यापक देखते हैं। बहुधा न्याय के प्रत्यय को संकुचित करके देश, धर्म व संस्कृति की सीमाओं के भीतर रखा गया है, उसमें भी स्त्रियों और दासों को समान नहीं समझा गया। शल्यजी ठीक ही, इसे दृष्टिगत आवरण का उदाहरण मानते हैं। समानता तो मूल्य है ही और रॉल्स जैसे कुछ दार्शनिक भी यह मानते हैं किन्तु जैसाकि शल्यजी कहते हैं, उनकी और रॉल्स की मान्यताएं एक-सी लग सकती हैं पर हैं नहीं। यह भेद क्या है इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

रॉल्स कहते हैं कि न्याय की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अनतिक्रमणीय है, उसका अतिक्रमण समाज के बृहत्तर हित के लिए भी उचित नहीं कहा जा सकता। रॉल्स के इस मत को शल्यजी इस रूप में व्याख्यायित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी गरिमा व तत्त्व में अनतिक्रमणीय है, इसी से यह आपादित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य के लिए 'बाह्य' ओर 'इतर' होगा। तब व्यक्तियों की समानता की प्रतिज्ञा का क्या आधार होगा? ऐसी स्थिति में समानता मात्र गणितीय या आकारिक ही हो सकती है। शल्यजी के अनुसार इस सिद्धांत के समर्थकों ने इसके सिवाय कोई युक्ति नहीं दी है कि समानता न्याय के प्रत्यय की अनिवार्य घटक है।

शल्यजी कहते हैं कि उपर्युक्त पश्चिमी विचार के विपरीत भारत में एक समानांतर दृष्टि के रूप में समानता की बात उठाई जाती रही है जैसाकि बहुचर्चित शंकराचार्य - चांडाल संवाद में देखा जा सकता है, और इसकी तुलना में पाश्चात्य परम्परा में समानता के पक्ष में रखा गया तर्क उन्हें उथला और पूर्वाग्रह जैसा लगता है। उस संवाद का कुछ अंश इस प्रकार है —"सब देह अन्न से बनते हैं, वे सब भौतिक होते हैं, इसलिए उनमें कोई भेद नहीं होता। जहां तक द्रष्टा आत्मा का संबंध है उसमें ब्राह्मण और चांडाल का भेद ही कैसे हो सकता है? जिस प्रकार सूर्य-किरणों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकाश गंगाजल और नाले के जल में समान रूप से प्रतिबिंबित होता है उसी प्रकार अद्वय ब्रह्म सब देहों में समान रूप से प्रतिबिंबित होता है।" अब देखिए कि उपर्युक्त संवाद में समानता के पक्ष में रखा गया तर्क वेदांत की तत्त्वमीमांसा को युक्त मानकर चलता है। दूसरे, यदि इसे समानता के पक्ष में रखा तर्क मानें तो यह निर्बल तर्क ही है। सूर्य का प्रतिबिंब सब जगह पड़ता है पर समान रूप से नहीं, वैसे ही इस तर्क के अनुसार ब्रह्म सभी में अभिव्यक्त होता है तो समान रूप से नहीं हो सकता। शल्यजी स्वयं मनुष्य का वैशिष्ट्य इसमें देखते हैं कि वह आत्मचेतन चेतना है (जबकि पशुजगत् या वनस्पति-जगत् में चेतना आत्मचेतनता से रहित है) मनुष्य यदि वह दर्पण है जिसमें ब्रह्म प्रकाशित होता है तो वह ऐसा दर्पण है जो स्वयं जानता है कि उसमें क्या प्रतिबिंबित हो रहा है, यह दर्पण धुंधला, अस्पष्ट या स्पष्ट हो सकता है और इस न्यूनाधिक्य की वजह से सभी व्यक्ति समान नहीं हो सकते। आगे, यदि कोई व्यक्ति वेदांत की तत्त्वमीमांसा को ही अस्वीकार करे तो उसके लिए क्या तर्क देंगे? क्या हम तात्त्विक चर्चा से परे रहते हुए यह नहीं कह सकते कि तथ्यतः असमानता हो तो भी समानता ही मूल्य है, ठीक वैसे ही जैसे चाहे सभी असत्य का सहारा लेते हों, मूल्य सत्य ही है क्योंकि वही मानवीय गरिमा के अनुकूल है। फिर जो साध्य मूल्य हैं उनके बारे में कोई क्या कह सकता है? सिवाय इसके कि वे मूल्य हैं? समानता और स्वतन्त्रता ऐसे ही मूल्य हैं। सामाजिक यथार्थ के बारे में हमारी समझ बहुत स्पष्टता से यह बताती है कि व्यक्तियों के बीच असमानताएं तो तथ्यतः हैं, बहुत कुछ उन संस्थाओं या संस्थाजनित व्यवस्थाओं के फलस्वरूप जिनमें व्यक्ति पहले से ही होता है, जिन्हें उसने चुना नहीं होता है। इसलिए न्याय की प्रथम समस्या यह बनती है कि समाज की व्यवस्था ठीक आरंभ-बिन्दु से शुरू की जाय। यह आरंभ-बिन्दु सबके लिए सभी संभावनाएं खुली रखना है। ठीक इसी रूप में रॉल्स समानता व स्वतन्त्रता को आधार-बिन्दु बनाते हैं, जहां से उनका शेष न्याय का सिद्धांत आगे गति पाता है। मुझे यह आश्चर्यजनक लगा कि रॉल्स से अपना मतांतर व्यक्त करते हुए शल्यजी ने रॉल्स के समानता-सिद्धान्त की चर्चा की है, स्वतन्त्रता के बारे में बिल्कुल ही कुछ नहीं कहा जो रॉल्स की अपनी दृष्टि से प्रथम सिद्धांत है और सर्वाधिक आधारभूत भी है। यदि हम पूर्वी या पश्चिमी विचार-परम्परा का इतिहास देखें तो हम पायेंगे कि इन मूल्यों को सामाजिक चिंतन का केन्द्र बनाने के लिए लंबा वैचारिक संघर्ष हुआ है। राज्य और धर्म दोनों ही संस्था के रूप में व्यक्ति की तुलना में बहुत बलशाली रहे हैं। उन्हीं के समक्ष व्यक्ति को महत्ता देने के प्रयास का एक परिणाम उपर्युक्त प्रकार के न्याय का सिद्धांत है। भारतीय परम्परा ने श्रुति के सहारे से, प्लेटो ने व्यक्तियों के विवेक की न्यूनाधिकता को आधार बनाते हुए ऐसे समाज की परिकल्पना को उचित ठहराने का प्रयास किया है जो समाज अपनी संरचना में ही असमानता पर टिका हुआ है। ऐसी वैचारिक परम्पराओं के संदर्भ में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देखें तो रॉल्स का मत पूर्वाग्रह से युक्त या उथला है ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता। शल्यजी ने यहां जो कुछ कहा है वे तर्क इस संदर्भ में पर्याप्त भी नहीं हैं। लेकिन इस आलोचना से हटकर हम शल्यजी के अपने मत का प्रतिपादन देखें।

शल्यजी लिखते हैं, "न्याय पुरस्कार व दंड की व्यवस्था तो है ही किन्तु यह एक अन्य आधारभूत नैतिक दृष्टि पर आधारित है जिसे निरहंकार और सामरस्य दृष्टि कह सकते हैं। मनुष्य का शेष सृष्टि से संबंध परस्परोपजीविता का है। व्यक्ति इस व्यवस्था में अवयव मात्र है। इस व्यवस्था का आधार दान-प्रतिदान की आनुपातिकता न होकर सामरस्य-दृष्टि है। इस सामरस्य में योगदान न्याय कहा जायेगा। न्याय अधिकारों की व्यवस्था नहीं अपितु उस मूल्य की रक्षा है जो वस्तु का सत्य है : विश्व का सत्य, मानव का सत्य, समाज का सत्य और व्यक्ति का अपना सत्य। इनमें कोई भी सत्य अन्य से बाधित नहीं होता। व्यक्ति का यह ऋण बनता है कि वह स्वयं को विश्व-संगीति में शामिल करे। तदनुसार न्याय वैयक्तिक अधिकारों के संतुलन की व्यवस्था न होकर विश्व और समाज की व्यवस्था में आत्मदान और उसके सामरस्य में तादात्म्य की सिद्धि है। अन्तःप्रेरित स्व-शासन का उपयुक्ततम व्यवस्थात्मक रूप केवल आध्यात्मिक दृष्टि-समन्वित पंचायती राज ही हो सकता है। शल्यजी यह मानते हैं कि ऐसी नैतिक दृष्टि वैज्ञानिक विकास के साथ भी संगति रख सकती है। यदि ऐसा न हो तो फिर उनके अनुसार "शस्त्रों के संतुलन की बात करना और न्याय की बात करना एक-जैसा ही होगा।"

मुझे लगता है कि शल्यजी ने जिस सर्वात्मवादी आध्यात्मिक निरहंकारदृष्टि से युक्त समाज की बात की है वह "न्याययुक्त समाज" की अवधारणा न होकर 'आदर्श समाज' की अवधारणा है। शल्यजी न्याय को इतने विस्तृत अर्थ में ग्रहण करते हैं जिसे हम सामान्यतः समाज का संपूर्ण शुभ कहते हैं। आदर्श की परिकल्पना व मीमांसा से पहले यह तो दृष्टिगत रखना ज़रूरी है ही कि हम न्याय की बात कर रहे हैं जोकि समाज के शुभ का एक अनिवार्य घटक है न कि समाज के संपूर्ण शुभ की बात कर रहे हैं। यदि यह भेद दृष्टि से ओझल हो जाता है तो यह समस्या हो जाती है कि दो पक्ष भिन्न धरातलों से बात कर रहे होते हैं और फिर वास्तविक विचार संभव नहीं हो पाता। 'न्याययुक्त समाज' और 'आदर्श समाज' में भेद यदि शल्यजी के ध्यान से अनायास ही ओझल हो गया है तो वे संभवतः इस पर फिर से विचार करना चाहेंगे, और यदि वे सुविचारित रूप में इन दोनों पदों में भेद नहीं करना चाहते हैं तो समस्या गहरा जाती है। लेकिन फिर उनका यह कहना कि न्याय को नैतिकता में प्रतिष्ठित होना चाहिए (जैसे हम कहते हैं कि कानून को नैतिकता में प्रतिष्ठित होना चाहिए) इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि न्याय तो संपूर्ण नीति ही बन जाता है—वैयक्तिक स्तर पर भी, क्योंकि यह व्यक्ति से निरहंकारी और त्यागी होने की अपेक्षा करता है, और सामाजिक स्तर पर भी—क्योंकि यह व्यक्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का ऋण बनता है कि वह अपने सत्य को विश्व के सत्य में एकरूप करके देखे और विश्व-संगीति में अपना योगदान करे। अब, यदि किसी को प्रतिदान में कुछ न मिले तो उसके लिए क्या करना श्रेयस्कर होगा? शल्यजी ने इस पर विचार नहीं किया है। अब यदि वे यह कहें कि यहां यह प्रश्न सार्थक ही नहीं है, मेरा कार्य मेरे योगदान से पूरा हो जाता है, तो यहां ठहरकर हमें सोचना पड़ेगा कि हम न्याय की बात किसके लिए कर रहे हैं? गांधी जी जैसे व्यक्तियों के समाज के लिए या आपके मेरे जैसे व्यक्तियों के समाज के लिए? ऐसे सद्गुणी व्यक्तियों के समाज की कल्पना न प्लेटो ने और न किसी भारतीय मनीषी ने की है। श्रेष्ठ नैतिक बोध और उसके अनुसार निरंतर आचरण की शर्त यदि न्याय है तो वह कुछ लोगों के लिए ही हो सकता है। शल्यजी के मत की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि न्याय की बात करते हुए उनकी दृष्टि मानव-व्यक्तित्व के बारे में नितांत सहज और सामान्य सत्य की उपेक्षा करती है।

जैसाकि स्पष्ट है, शल्यजी के विचार में ऋण की अवधारणा आधारभूत है। यह एक सुविदित बात है कि हमारी और पाश्चात्य शास्त्रीय चिंतन-परम्परा में भी ऋण की अवधारणा ही राजनैतिक और सामाजिक चिंतन में आधारभूत मानी गई है। आज की पश्चिमी परम्परा इस रूप में ठीक विपरीत है कि उसके विचार का आरंभ-बिन्दु अधिकार है और ऋण उन अधिकारों के ठीक उपयोग कर पाने की आवश्यक शर्त है। यह दृष्टि-भेद आत्यंतिक है। इसके कारणों और औचित्य की मीमांसा अभी जाने दें। मान लें कि ऋण-केन्द्रित अवधारणा ठीक है। लेकिन विश्व की व्यवस्था क्या है और उसमें मेरा ऋण क्या बनता है यह जानना स्वयं अधिकारों और कर्त्तव्यों के ताने-बाने से युक्त एक व्यवस्था को पूर्वकल्पित करता है। जैसे शिक्षक के रूप में मेरा जो कर्त्तव्य है मुझे वैसा करना चाहिए, लेकिन मैं एक शिक्षक बन सकी हूं यह स्वयं किसी व्यवस्था के द्वारा दिये गए अधिकार का प्रतिफल है। इस रूप में ऋण चुका पाना स्वयं किसी अधिकार को पूर्वकल्पित करता है। वह अधिकार स्वयं कई अन्य अधिकारों व दायित्वों से बुना हुआ सा रहता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि विचार की दृष्टि से अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही मूलगामी बनते हैं। अब, यदि ऐसा कोई समाज हो जो कुछ विशिष्ट वर्ग या वर्गों को ही ऐसा अधिकार देता हो कि वे व्यक्ति के रूप में समाज और संस्कृति में योगदान कर सकें और शेष को उससे वंचित करता हो तो ऐसे समाज का हम क्या करेंगे? हम पुनः उस बात पर आ जाते हैं जहां से हमने प्रारंभ किया था कि ऐसे समाज की संरचना ज़रूरी है जो सबको समान अधिकार दे सके चाहे उनकी स्वतन्त्रता इस रूप में ही क्यों न हो कि वे अपने कर्मों से स्वयं को व समाज को समृद्ध करें और अपने जीवन की सार्थकता पा सकें। स्वतन्त्रता व समता के आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करके भी यह अनिवार्य नहीं है कि हम प्रतिद्वंद्वात्मक समाज व उसके अनुरूप आर्थिक व्यवस्था का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समर्थन करें। रॉल्स के आरंभ-बिन्दु से प्रारंभ करके हम राजनीतिक व्यवस्था व आर्थिक व्यवस्था का अन्य विकल्प तलाश कर सकते हैं। पर अभी इस विचार का विस्तार अवांतर होगा।

व्यक्ति अपने सत्य का विश्व के सत्य के साथ संगति रखते हुए निर्वाह कर सकता है। गांधी जी इसके एक उदाहरण कहे जा सकते हैं। पर न्याय की व्यवस्था के बिना समाज नहीं चलता और हम सब गांधी नहीं हैं। शल्यजी का यह कहना ठीक है कि संस्कृति का संबंध व्यक्तियों के जैविक स्तर को नैतिक-आध्यात्मिक स्तर में रूपांतरित करना ही है। लेकिन नीति के सारे नियम भी एक स्तर के नहीं होते। एक स्तर वह है जहां नैतिक नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और पालन नहीं करना आलोचना का विषय बनता है। लेकिन नीति का एक दूसरा श्रेष्ठ स्तर भी है जिसे पाना या साधना प्रशंसा का विषय होता है किन्तु नहीं साधना आलोचना का विषय नहीं होता। न्याय का संबंध नीति के प्रथम स्तर से है, शल्यजी उसे नीति के सर्वोच्च स्तर से जोड़ते हैं। उस रूप में न्याय वह सर्वोच्च आदर्श बन जाता है जो अनुसरण नहीं मांगता, साधे जाने की अपेक्षा करता है। यदि समाज के अधिकांश सदस्यों की ऐसी मूल्य-दृष्टि हो और वे स्वशासन से चल सकते हों तो कोई समस्या ही नहीं बची रहती। पर ऐसा है नहीं। तो न्याय की ऐसी अवधारणा तो सोचनी ही होगी जिसका प्रत्येक व्यक्ति से संबंध बना रहे। यदि शल्यजी को ऐसी बात शस्त्रों के संतुलन से शांति की बात जैसी नज़र आती है तो भी इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि मूल्य तो शांति ही है, साधन भी ऐसा ही उपलब्ध हो तो अच्छी बात है, पर यदि ऐसा साधन सुलभ नहीं है तो उपाय क्या है? शांति लक्ष्य बना रहे, अभी यही काफी है।

— सरला
कल्ला

श्री शल्य का उत्तर

सरला जी ने मेरी पुस्तक **समाज : दार्शनिक परिशीलन** के 'न्याय' अध्याय पर पर्याप्त विस्तृत टिप्पणी करने का जोखम उठाया इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ। किन्तु उनको मेरे विचार का संप्रेषण उतना सम्यक् नहीं हो पाया है जितना आलोचना के लिए अपेक्षित था। इसका कारण शायद उनका उन विचारों से अधिक गहरा परिचय है जो वर्षों से उनके अध्ययन-अध्यापन के विषय रहे हैं और 'आधुनिक' लोगों में सर्वस्वीकृतवत् हैं। उनकी सब आपत्तियों का पूर्ण निराकरण यहां संभव नहीं है, वह तो कोई भी मूल लेख पढ़कर सहज रूप में देख सकता है कि सरला जी की शंकाएं अस्थाने हैं। किन्तु मैं यहां संकेत रूप में स्पष्टीकरण का प्रयास करूंगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपनी आलोचना के दूसरे अनुच्छेद के आरंभ में वे लिखती हैं "लेख के आरंभ में शल्यजी लिखते हैं कि न्याय अपने तत्त्व में अपर्याप्त है और उसे नैतिकता में कहीं गहरे प्रतिष्ठित होना चाहिए।" इसकी आलोचना करते हुए वे तीसरे अनुच्छेद में कहती हैं "यह मुझे बहुत साफ तौर पर लगता है कि न्याय का कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है, न हो सकता है जो इसे मूलतः सामाजिक सद्गुण न मानता हो। 'न्याय' नैतिक पद ही है इसलिए "नैतिकता को न्याय में गहरे प्रतिष्ठित होना चाहिए" यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता।" अब, मैंने जो लिखा है वह ऐसा नहीं है। लेख के आरंभ में न्याय की सामान्य अवधारणा पर विचार के संदर्भ में मैंने जो लिखा है वह इस प्रकार है . . ."ईश्वर की न्यायपरता के साथ उसकी भक्तवत्सलता, दयालुता आदि की अवधारणाएं भी हैं जो न्याय की शुद्ध अवधारणा से संगत नहीं ठहरतीं। किन्तु मनुष्य ने ईश्वर में वत्सलता और दयालुता को उतना ही आवश्यक पाया है जितना न्यायपरता को। ऐसी अवस्था में या तो मनुष्य में एक सहज अन्तर्विरुद्धता होनी चाहिए अथवा न्याय को अपने तत्त्व में ही आत्म-अपर्याप्त होना चाहिए, अथवा इसका तत्त्व उससे गहनतर होना चाहिए जैसा व्यवहार-बुद्धि को साधारणतः गम्य होता है।" मैं समझता हूं, इससे आगे इसके स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं है। अब रही न्याय-विषयक सब सिद्धान्तों द्वारा इसे अनिवार्यतः नैतिक पद मानने की बात। मैंने दिखाया है कि उस विचार-परम्परा की न्याय की अवधारणा, जिस परम्परा के रॉल्स अनुयायी हैं, नैतिकता में प्रतिष्ठित या नैतिक नहीं है और इसकी पुष्टि में मैंने रूसो को उद्धृत भी किया है। वैसे भी जहां न्याय करार (कांट्रेक्ट) में प्रतिष्ठित हो वहां उसे नैतिकतापरक कैसे कहा जा सकता है?

'न्याय' की परिभाषा को दंड और पुरस्कार की व्यवस्था तक सीमित रखने को स्वीकार करने में मैंने जो कठिनाइयां बतायी हैं उस पर सरला जी की टिप्पणी है : "इनमें कुछ कठिनाइयां तो वास्तव में ही हैं, मैं यहां सिर्फ यह जोड़ना चाहती हूं कि उन समस्याओं पर कम से कम पश्चात्य चिंतन-परम्परा में बहुत विस्तार से विचार और गहन चिन्तन हुआ है। इसलिए इस परिभाषा की विवेचना में जो प्रश्न शल्यजी ने उठाये हैं वे मैं समझती हूं कि ठीक उसी रूप में नहीं उठने चाहिएं चाहे परम्परा में दिये गए समाधान उन्हें युक्तियुक्त न भी जान पड़ें।" ऐसा क्यों? इस निगमनात्मक 'इसलिए' का क्या औचित्य है? पाश्चात्य परम्परा द्वारा किसी बात पर विचार कर लिया गया होने पर मेरे लिए उस पर विचार अनपेक्षित और अनधिकार चेष्टा कैसे हो जाता है?

सरला जी आगे कहती हैं कि मैंने 'दंड' और 'पुरस्कार' को एक ही कोटि में रख दिया है जो ठीक नहीं है, क्योंकि "न्याय का दंड से सीधा सम्बन्ध है, पुरस्कार से नहीं है।" यहां शायद वे 'न्याय' को 'कानून' के अर्थ में देख रही हैं और कानून को राज्य के एक करण के रूप में, नहीं तो दंड देना हो या पुरस्कार, अपराध का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निर्णय करना हो या अर्हता का निर्णायक की भूमिका दोनों में समान ही होती है। इसके अतिरिक्त 'दंड' और 'पुरस्कार' पदों के अर्थ उससे बहुत व्यापक हैं जितना साधारणतः हम समझते हैं। सरला जी तो इन्हें बहुत ही संकुचित अर्थ में समझ रहीं हैं। उदाहरणतः अध्यापक को यदि वेतन कम और समाज में सम्मान अधिक मिलता है तो यह समाज की एक सराहनीय मूल्य-दृष्टि का द्योतक है और यह पुरस्कार-वितरण का एक रूप है।

आगे सरला जी ने 'समानता' विषयक आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि की मेरी आलोचना और भारतीय दृष्टि के समर्थन पर कुछ आपत्तियां उठायी हैं। इसमें भी मेरे प्रतिपादन को ठीक से प्रस्तुत नहीं किया गया है। इस प्रसंग में मैंने शंकराचार्य और चांडाल के बीच एक संवाद का उल्लेख किया है और उसमें निहित दृष्टि को उपर्युक्त पाश्चात्य दृष्टि से गहनतर बताया है। इसका उल्लेख जिस प्रसंग में हुआ है वह 'समाज द्वारा अपनी ही दृष्टि को नहीं समझने' का है और नासमझी के उदाहरणों के रूप में मैंने प्लेटो, अरस्तु, तुलसीदास और शंकराचार्य जैसे महान विचारकों द्वारा दास-प्रथा / जाति-प्रथा के स्वीकार का उल्लेख किया है। वहां जिस दृष्टि को मैंने 'गहनतर' बताया है वह शांकर अद्वैतवादी नहीं है बल्कि सामान्य भारतीय अद्वैतिक दृष्टि है। सरला जी की यह आपत्ति कि न्यायविषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने का अर्थ होगा वेदांत की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करना, इस भ्रांति पर आधारित है कि आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि किसी तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत नहीं करती। जैसाकि लेख में मैंने दिखाया है, यह भी एक तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत करती है और वह पॉज़िटिविज़्म की है।

समानता विषयक आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि की एक और सीमा है जिसकी ओर सरला जी ने अनजाने में ध्यान आकर्षित किया है। वे कहती हैं "यदि हम पूर्वी या पश्चिमी विचार-परम्परा का इतिहास देखें तो हम पायेंगे कि इन मूल्यों को सामाजिक चिन्तन का केन्द्र बनाने के लिए लम्बा वैचारिक संघर्ष हुआ है। राज्य और धर्म दोनों ही संस्था के रूप में व्यक्ति की तुलना में बहुत बलशाली रहे हैं, उन्हीं के समक्ष व्यक्ति को महत्ता देने के प्रयास का एक परिणाम उपर्युक्त प्रकार के न्याय का सिद्धांत है।" तो यह कोई सिद्धान्त नहीं हुआ, केवल इतिहास हुआ जिसे सिद्धांत के रूप में पश्चिम में देखा गया। सरलाजी ने पूर्व को बेकार ही इसमें मिला लिया, क्योंकि पूर्व में ऐसा कुछ नहीं हुआ।

अन्त में सरला जी की अन्य आलोचनाओं का उत्तर केवल सांकेतिक रूप से दूंगा, क्योंकि एक तो मैं इस उत्तर के कलेवर को व्यर्थ नहीं बढ़ाना चाहता और दूसरे, यह सांकेतिक उत्तर ही उनके विचार की दिशा की ग़लती स्पष्ट दिखा देगा। वे कहती हैं "न्याययुक्त समाज' और 'आदर्श समाज' में भेद यदि अनायास ही ओझल हो गया है तब वे संभवतः इस पर फिर से विचार करना चाहेंगे . . . लेकिन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फिर उनका यह कहना कि न्याय को नैतिकता में प्रतिष्ठित होना चाहिए (जैसे हम कहते हैं कि कानून को नैतिकता में प्रतिष्ठित होना चाहिए) इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि न्याय तो संपूर्ण नीति ही बन जाता है : वैयक्तिक स्तर पर भी, क्योंकि यह व्यक्ति से निरहंकारी और त्यागी होने की अपेक्षा करता है, और सामाजिक स्तर पर भी क्योंकि यह व्यक्ति का ऋण बनता है कि वह अपने सत्य को विश्व के सत्य में एकरूप करके देखे और विश्व-संगीति में अपना योगदान करे। अब, यदि किसी को प्रतिदान में कुछ न मिले तो उसके लिए क्या करना श्रेयस्कर होगा?"

न्याय संपूर्ण नीति नहीं बन जाता किन्तु न्याय-कर्त्ता से, उसके न्याय-पीठ पर बैठे होने पर, नैतिक होने की अपेक्षा निश्चित रूप से होती है। यदि कोई अहंकार-ग्रस्त, द्वेष-ग्रस्त आदि-आदि है तो वह न्याय कैसे कर सकता है? अब रही अपना अधिकार नहीं मिलने पर किंकर्त्तव्यता की बात। यदि मुझे अपना अधिकार नहीं मिलता तो भी यह उतना ही दोष है जितना अन्य का अधिकार नहीं मिलना। **गीता** अपना अधिकार नहीं मिलने पर ही युद्ध का उपदेश है और **गीता** में ही सब कर्म को यज्ञ रूप में करने का भी उपदेश है।

जहां तक मेरे प्रतिपादन में 'न्याय-युक्त समाज' और 'आदर्श समाज' में भेद समाप्त होने का प्रश्न है उसके लिए निवेदन है कि कोई बताये इनमें क्या भेद हो सकता है? साम्यवाद, प्रजातंत्रवाद, गांधीवाद, प्लेतोई राज्य या मनु-सम्मत राज्य सब 'आदर्श' और 'न्याय-सम्मत समाज' को एकार्थक मानकर ही चलते हैं। ऐसा मानने के कारण ही हम उन्हें कह सकते हैं कि "तब आपके सिद्धान्त में विसंगति है।" उदाहरणतः यदि एक ही प्रकार का कर्म ब्राह्मण के लिए अदंडनीय और शूद्र के लिए दंडनीय है तो हम मनु से पूछ सकते हैं कि तब इसमें न्याय की रक्षा कैसे होगी? यदि मनु के पास इसके लिए युक्ति है, तब हमें उस युक्ति में दोष दिखाना होगा।

शल्यजी के उपर्युक्त उत्तर के बाद कुछ और प्रश्न और उत्तर भी हुए जिनका विवरण यहां नहीं दिया जा रहा है।

सरला कल्ला
संयोजिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन गोष्ठी — 2

15 अप्रैल, 1995 को आयोजित उन्मीलन-गोष्ठी में **उन्मीलन** के जुलाई 1992 अंक में प्रकाशित प्रोफेसर दयाकृष्ण के लेख "नया सोचने के लिए आमंत्रण" पर प्रोफेसर राजेन्द्र स्वरूप भटनागर और श्री यशदेव शल्य ने टिप्पणियां कीं। टिप्पणियां नीचे दी जा रही हैं। इस गोष्ठी में प्रोफेसर भटनागर और श्री शल्य के तथा मेरे अतिरिक्त प्रोफेसर दयाकृष्ण, डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. भगवती राव, डॉ. योगेश गुप्ता तथा श्री जगदीश शर्मा ने भाग लिया।

शल्य जी की टिप्पणी

दयाजी ने अपने इस लेख का कोई शीर्षक नहीं दिया था।* "नया सोचने के लिए आमंत्रण" यह शीर्षक मैंने इसे दिया था। मुझे इसके दो शीर्षक उपयुक्त लग रहे थे, एक 'वैचारिक उद्यान-विहार', या 'विचार-विहार' और दूसरा यही जो इसका दिया गया है। यों मुझे इनमें पहला शीर्षक ही अधिक उपयुक्त लग रहा था, क्योंकि इस लेख में नया कुछ सोचने की उतनी बात नहीं थी जितनी बिना किसी उद्देश्य-फल की चिन्ता किये विचार की कुंज-गलियों में घूमने की। दयाजी ने लेख जहाँ से आरंभ किया है उसका लेख के मध्य और अन्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, और यह असम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि स्वयं दयाजी ने लेख के अन्त में यह स्वीकार किया है। किन्तु इसे उन्होंने विचार-प्रक्रिया का, और इस प्रकार दर्शन का भी, उत्कृष्टतर रूप कहा है जो मुझे उचित मालूम नहीं देता। दयाजी का यह कथन उनकी दर्शन सम्बन्धी एक दूसरी, और अधिक मूलबद्ध, धारणा से सम्बन्धित प्रतीत होता है कि विचार अपना साध्य स्वयं है और दर्शन का कार्य केवल तर्क-युक्ति के सहारे विचार करते जाना मात्र है। यद्यपि ये दो बातें एक के ही दो रूप या परस्पर सम्बन्धित भी नहीं हैं, क्योंकि विचार को आत्मपर्याप्त मानने पर भी उसमें एकान्वयता, एक या अधिक प्रतिज्ञाओं का पार्यन्तिक विवेचन, यह तो अपेक्षित रहता ही है। मनमाने भ्रमण में इसकी आवश्यकता नहीं रहती। इस दूसरे विकल्प में एक मौज तो है, और दयाजी को यह मौज बहुत अच्छी भी लगती है, अपने-आप में यह उन्मुक्तता और निर्मलहृदयता की द्योतक है, किन्तु विचार के लिए, उसको स्वायत्त और आत्मपर्याप्त मानने पर भी,

* गोष्ठी में उन्होंने बताया कि उन्होंने 'आओ कुछ नया सोचें' शीर्षक दिया था, हो सकता है जो प्रति उन्होंने मुझे भिजवायी उसमें यह देने से रह गया हो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह उपयुक्त नहीं है। उदाहरणतः दयाजी ने यह प्रश्न लेकर इस लेख का आरम्भ किया है कि विचार में नया क्या हो सकता है? इसके पूर्वपक्ष के रूप में जयन्त भट्ट का कथन उद्धृत किया है और उसका कुछ दूर तक प्रतिवाद भी किया है, किन्तु इस बात को आगे नहीं बढ़ाकर दूसरी बातें ले ली हैं और उन्हें उतना भी आगे नहीं बढ़ाया है। विचार में ऐसी मनमौज कहाँ तक वरेण्य है, या कहें वैचारिक आनन्द भी दे सकती है, यह सोचने की बात है।

अब, जहां तक विचार को तर्क-क्रीड़ा, युक्तियों-प्रतियुक्तियों का खेल, कुछ नयी कौड़ी खोज निकालने का कौतुक मानने का प्रश्न है, वह और भी भयावह है। अधिक भयावह इसलिए क्योंकि 'उद्यान-विहारवाद' को कोई गंभीरता से नहीं लेगा जबकि तर्क-क्रीड़ावाद को बहुत लोग गंभीरता से लेते हैं। यहां कहा जा सकता है कि 'विचार की आत्मपर्याप्तता' का अर्थ 'तर्क-क्रीड़ापरता' नहीं है। इसका उत्तर है कि एक तो, इसका दूसरा क्या अर्थ है यह कोई बताये, दूसरे, जहां तक दया जी के इस विषयक प्रतिपादन को मैं जानता हूं, उनका सब ले-देकर यही अर्थ है।

इसका एक अर्थ 'विचार के अन्तर्निहित आशय की व्याख्या' भी लिया जा सकता है, किन्तु दयाजी का यह अर्थ नहीं है, वे अपने मन्तव्य को 'निरन्तर प्रश्न उठाने' का नाम देते हैं, जिसमें प्रश्न उठाने पर ही आग्रह होता है समाधान खोजने पर नहीं। नहीं तो 'प्रश्न उठाने' में 'वस्तुओं की सतह के नीचे गुह्य अर्थ या तत्त्व की जिज्ञासा' प्रयोजन भी हो सकता है, किन्तु ऐसी जिज्ञासाओं के पचड़े में पड़ेंगे तो ग्रंथों की रचना हो जायगी और दयाजी को ऐसी गुरु गंभीर मुद्रा पसन्द नहीं है। किन्तु द्रष्टव्य है कि सब बड़े दार्शनिक बहुत सी आत्म-असंगत बातें करते हैं और इसमें दयाजी यही कर रहे हैं : वे विचार सत्य को पाने के लिए ही करते हैं, विनोद या तर्क-क्रीड़ा के लिए नहीं, वकालत चाहे वे तर्क-क्रीड़ा की करें। तर्क-क्रीड़ा वास्तव में रुद्ध विचार-परंपरा का ही गुण होता है, सत्य को लक्षित करने वाले विचार का नहीं।

किन्तु इस लेख में दयाजी ने वास्तव में ही 'उद्यान-विहार' की उपमा को अधिक गंभीरता से ले लिया प्रतीत होता है और परिणामतः कुछ बातें अपेक्षित सावधानी छोड़कर कह दी हैं। उदाहरणतः पहले ही अनुच्छेद में वे जयन्त भट्ट के मत का खंडन करते हुए कहते हैं : "और अगर आप अधिक ध्यान से देखें तो क्या सारा तत्त्व-चिन्तन इसी भयंकर भूल पर आधारित नहीं है? यह जानने की अभिलाषा या अभीप्सा कि सारा संसार जिन मूल तत्त्वों से बना हुआ है और जिनका ये सब वस्तुएं केवल विन्यास-वैचित्र्य मात्र हैं वही मूल तत्त्व वास्तव में सत् है और यह सब विविधता केवल प्रतीति या माया मात्र है।" अब यह बात स्पष्टतः सही नहीं है। केवल तीन महायानी बौद्ध सम्प्रदायों और शांकर वेदान्तियों के अतिरिक्त कोई तत्त्वमीमांसी जगत् को, इसकी विविध रूपात्मकता में भी, मिथ्यां नहीं मानता और ये दार्शनिक भी जगत् को मिथ्या इसके विन्यास-वैचित्र्य होने के कारण नहीं मानते बल्कि अविद्यामूलक होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के कारण मानते हैं। अब, यदि दयाजी की बात मानें तो मानना होगा कि भौतिकवादी, प्रत्ययवादी, चिन्मात्रवादी, द्वैतवादी सब जगत् को मिथ्या या असत् मानते हैं क्योंकि यह विन्यास-वैचित्र्य मात्र है। किन्तु यह बात स्पष्टतः सही नहीं है। जगत् को इलेक्ट्रान-प्रोटॉन से संरचित या संहत मानने वाला भौतिक विज्ञान भी जगत् को असत् या मिथ्या कब कहता है?

आगे पृष्ठ 92 पर दयाजी प्रदत्तता और संभाव्यता के सम्बन्ध का प्रश्न उठा कर कहते हैं, "तो, क्या यह मानना होगा कि प्रदत्त और संभावित रूप में कोई तालमेल होता ही नहीं और आज जो है किसी संभावित तथ्य का अंग य अंश नहीं है? ज्ञान के संदर्भ में इस प्रश्न को उठाना ज्ञान की आधारशिला को ही हटा देना है, क्योंकि ज्ञान की आधारशिला यह मानकर चलती है कि जो है सो है और जो है वह सदैव वैसा ही था और वैसा ही रहेगा।" यह प्रश्न दयाजी ने इतिहास के सन्दर्भ में उठाया है कि उसमें जो घटित होता है वह नहीं घटित होकर कुछ दूसरा भी घटित हो सकता था। अब, यह सारा प्रसंग दयाजी ने जिस प्रकार रखा है वह काफी व्यामिश्रपूर्ण है। घटित का असंख्य संभावनाओं में से एक होना और घटित का अपेक्षाओं से भिन्न या विपरीत होना ये दो बिल्कुल अलग बातें हैं। परिणामतः अपेक्षित और अनपेक्षित में तालमेल होना और घटित तथा अघटित संभाव्य में तालमेल होना ये दो भी बिल्कुल अलग बातें हैं। दयाजी ने दोनों को व्यामिश्रित कर दिया है। उन्होंने प्रश्न पहले सन्दर्भ में उठाकर उसे दूसरे में समाप्त किया है। अव, क्योंकि यहाँ प्रश्न ज्ञान विषयक है और उसके साथ पहला सन्दर्भ ही जुड़ा है इसलिए मैं प्रथम के सम्बन्ध में ही कहूंगा। वास्तव और संभाव्य में एक आधारभूत तालमेल होता है, क्योंकि संभाव्य वह होता है जो वास्तव हो सकता है और वास्तव वह होता है जो असंख्य संभाव्यों में से ही एक होता है। अघटित संभाव्यों से उसकी भिन्नता केवल इस बात में होती है कि वह घटित हो गया रहता है और इसी कारण वह आगन्तुक होता है।

अब, दयाजी के इस प्रतिपादन के बारे में कि 'ज्ञान की आधारशिला यह मानकर चलती है कि जो है सो है और जो है वह सदैव वैसा ही था और वैसा ही रहेगा।" शाश्वतिकता की बात ज्ञान-विषय के सम्बन्ध में कही गई है ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं। किन्तु यह सही नहीं है कि दार्शनिक या अन्य लोग ज्ञान-विषयों के लिए यह अनिवार्य मानते हैं। सवसे पहली बात तो यह है कि दार्शनिक असंख्य हैं और वे असंख्य मत रखते हैं, किन्तु संभवतः कोई भी दार्शनिक यह नहीं मानता है कि ज्ञान में यह पूर्वगृहीत रहता है कि उसका विषय शाश्वत, एक-रूप और एक-रस ही होगा। केवल कुछ दार्शनिक पारमार्थिक तत्त्व या तत्त्वों के सम्बन्ध में ऐसा मानते हैं, वे भी व्यावहारिक सत्यों और व्यावहारिक ज्ञान को स्वीकार करते हैं और उसके विषयों को वैसा नहीं मानते, किन्तु अधिकांश दार्शनिक परमार्थ और व्यवहार का भेद नहीं करते। यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवश्य है कि यह भेद करने वाले और नहीं करने वाले सभी परिवर्तमान विषयों के पीछे किसी नियम की खोज करते हैं जो नियम इस प्रकार परिवर्तन के विषय नहीं होते, किन्तु ऐसे दार्शनिक भी हैं जो नियमों का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, इन्हें केवल व्यवस्थापक कल्पनाएं मानते हैं।

आगे पृ. 95-96 पर दयाजी ने एक और प्रकट रूप में सीधी और सही किन्तु वास्तव में वहुत भ्रामक बात कही है। वे प्रत्यक्षगत भ्रम के उदाहरण देने के बाद कहते हैं—"लेकिन कुछ ऐसे मौके भी होते हैं जब हम ग़लत दिखने को यह जानकर भी कि वह ग़लत है, पसन्द करते हैं। . . . क्योंकि हम यहाँ इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ विशेष सन्दर्भों में जो ग़लत है या भ्रमपूर्ण है वही ठीक है क्योंकि वह हमारी चेतना में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जो वांछनीय है। एक प्रकार से अनेक कलाकृतियाँ, पौराणिक आख्यान, साहित्यिक रचनाएं तथा सभी आध्यात्मिक साधन आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इन सन्दर्भों में सत्य-असत्य की बात करना बेकार सा ही लगता है क्योंकि ये हमें उनसे अधिक अर्थवत्ता लिए हुए प्रतीत होते हैं जिनके सम्बन्ध में सत्य-असत्य की बात उठाना हम ज़रूरी समझते हैं। तो क्या आदमी अपनी सार्थकता उसीमें पाता है जिसका सत्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है?" यदि इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ें तो इसमें अनेक विसंगतियां और भ्रांतियां दिखायी देंगी। सर्वप्रथम, अर्थवत्ता और वांछनीयता के प्रश्न के कुछ सन्दर्भों में सत्यासत्य के प्रश्न का गौण या अवान्तर होना एक बात है और असत्य ही का वांछनीय होना दूसरी बात। अब, मान लें कि उनका अभिप्राय दूसरे : असत्य होने पर भी वांछनीय होने : से ही है तो कला और साहित्यिक कृतियों और आध्यात्मिक साधनों को असत्य कहना किस तरह युक्त है? 'राम जाता है' वाक्य असत्य है यदि यह राम के गमन के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए बोला गया है और राम जा नहीं रहा है, किन्तु क्या कलाकृति की रचना या साहित्यिक कृति की रचना इस प्रकार कोई सूचना देने के लिए की जाती है? यदि नहीं तो उस पर सत्यासत्य की यह सूचनात्मक कसौटी कैसे लागू की जा सकती है? क्या इनकी रचना मनःस्थिति विशेष उत्पन्न करने के लिए की जाती है? मानलें कि यही प्रयोजन होता है, किन्तु क्या यह असत्प्रतीति उत्पन्न करके और उसे बनाये रखकर ऐसा किया जाता है? कलाकृतियों के साथ 'आध्यात्मिक' साधनों को रखने का क्या औचित्य है? यहाँ दयाजी का ध्यान हक्सले के एल. एस. डी. आदि के प्रयोगों की ओर है, किन्तु क्या वे आध्यात्मिक साधन हैं? तो मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि क्या हैं? यदि दोनों को मूलतः एक ही मान लिया जाय तो इनका कला के साथ वर्गीकरण कैसे उचित होगा? और दोनों को एक मानना क्या बुद्ध, कबीर और हक्सले को एक ही प्रकार के साधक मानना नहीं होगा?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आगे दयाजी प्रस्तावित करते हैं कि "असल में हम कर्म से जिस संसार की रचना करते हैं उसके सत्य की खोज करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए न कि केवल उस सत् के सत्य की खोज करना जो हमसे बिल्कुल ही परे है और जो हमारे चिन्तन-मनन, व्यवहार आदि से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं होता।"(97) मैं समझता हूँ यहाँ 'केवल' शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन रूप से किया गया है। अब, यदि दयाजी अपने इस प्रतिपादन को वास्तव में गहराई से लेते हैं तब कलाओं और काव्य आदि का सत्य हमारे लिए सबसे अधिक गवेष्य हो जाता है। किन्तु इनका सत्य कैसा होता है? उन्हें तो दयाजी ने वैसे भी "भ्रांति का आश्रय लेकर काम्य और प्रेय की रचना करने वाली" कहा है। इसे जाने भी दें तो किसी भवन, मूर्त्ति, चित्र या कविता का सत्य, सत् से पृथक्, कैसा होता है और वह किस प्रकार अन्वेष्य होता है? ऐसा नहीं है कि 'कृतियों का सत्य' और 'उस सत्य की खोज' की बात में कोई अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु दयाजी ने जैसे यह सब बात रखी है उसमें इसका क्या अर्थ है, या उनका इससे क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि यह बात उन्होंने ऐसे किसी विचार-क्रम में प्रस्तुत नहीं की है।

अब अन्त में 'नया कुछ सोचने' के सम्बन्ध में हम कहना चाहेंगे। इसका क्या अर्थ है? गोष्ठी में मुकुन्द जी ने इस निमंत्रण की निरर्थकता दिखाने के लिए प्रश्न किया था कि यदि कोई इसके विपरीत निमंत्रण दे कि 'आओ कुछ पुराना सोचें', 'पुराना सोचने के लिए आमंत्रण' तो कैसा रहेगा? स्पष्टतः इसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि यदि कोई कुछ विचार करता है, किसी प्रश्न का उत्तर खोजता है, किसी समस्या का समाधान पाने का प्रयत्न करता है तो वह नया ही हो सकता है, चाहे अपने-आपमें वह प्रश्न और उत्तर यों नये नहीं हों, पहले भी किसी ने किये हों। इस पर दयाजी ने कहा था कि उन्होंने एक दूसरा लेख लिखना आरंभ किया है और उसका आरंभ ठीक इसी बात से किया है। सो, नया विचारने के लिए आमंत्रण देते हुए दयाजी को पता था कि वे आने वाले के लिए सचमुच कोई थाली परोसने वाले नहीं हैं। क्योंकि 'पुराना सोचना' इसका कोई अर्थ ही नहीं है।

किन्तु तब भी यह सही है कि विचार में प्रायः ही एक गतानुगतिकता, एक बासीपन रहता है। विचारकों की एक के बाद दूसरी संतति वही की वही बातें दुहराती चली जाती है। दैनिक जीवन में या तो हम परंपरागत रीति से ही सोचते और करते हैं, अथवा जो करते हैं वह युक्त विचार नहीं होकर कामनाओं-आवेगों आदि के अधीन विचार और कर्म होता है। दर्शन में भी अधिकांश चिन्तन गतानुगतिक ही होता है। शताब्दियों में कभी कोई दार्शनिक, मनीषी, द्रष्टा आता है जो नयी दृष्टि देता है, नया विचार देता है और तब उसकी परंपरा चल पड़ती है। वह परम्परा एक सीमा तक उस दृष्टि के विस्तार और गहराई की परंपरा भी होती है किन्तु यह देखने की बात है कि यदि दृष्टि वही है, यदि आपने कुछ बातों को इसलिए स्वीकार कर लिया है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि ये बुद्ध ने कही हैं, ये महावीर ने, ये वेद या गीता ने, या गांधी या अरविन्द ने तो बाकी आप जो कर रहे हैं उसे नया किस अर्थ में कहा जा सकता है? गतानुगतिक होने के लिए सचेतन रूप से किसी ग्रंथ या व्यक्ति का अनुयायी होना आवश्यक नहीं होता, शब्द मात्र भी विचार को बांधने के लिए पर्याप्त होते हैं। उदाहरण के लिए आत्मा, ईश्वर, बंधन, मोक्ष, वैराग्य, विज्ञान, रीज़न, प्रजातंत्र, मानवाधिकार आदि शब्दों का प्रयोग या निषेध हम प्रायः पूर्वग्रहों के अधीन होकर ही करते हैं और तब ये शब्द हमें किसी रूढ़ अवधारणा-व्यवस्था को सौंप देते हैं।

तो इस बंधन से मुक्ति कैसे सम्भव है? यह मुक्ति कुछ हद तक इन बन्धनकारी तत्त्वों से निरन्तर सजग रहकर और अपने अनुभव और दीठ को साक्षी रखकर संभव होती है। 'कुछ हद तक' इसलिए कहा क्योंकि अपना अनुभव और अपनी दीठ भी कोई सहज प्रमाण नहीं होतीं। दूसरे, अनुभव और दृष्टि यों भी नितान्त अपने नहीं हो सकते क्योंकि उसके लिए परंपरा, शिक्षा और अभ्यास का पूर्वाधार आवश्यक होता है जो अपने-आप से बन्धनकारी होता है। किन्तु तब भी यही एक रास्ता है। जैसे भाषा की सीमाएं भाषा से ही बतायी जा सकती हैं उसी प्रकार संस्कारों का अतिक्रमण भी संस्कृत चेतना ही कर सकती है।

किन्तु द्रष्टव्य है कि विचार में नावीन्य की खोज भी गतानुगतिकता हो सकती है। जैसाकि हम जानते हैं पहले विचार का महाजन-सम्मत होना ही उसकी श्रेष्ठता का लक्षण माना जाता था जैसे आज उसका विलक्षण होना उसकी श्रेष्ठता का लक्षण माना जाता है। इसीसे कालिदास को यह कहना पड़ा कि सब बातें पुरानी होने से ही श्रेष्ठ नहीं हो जातीं। इस तरह संस्कार-मुक्ति की खोज भी कहीं गहरे में संस्काराधीनता के ही द्वारा नियोजित हो सकती है, और सच पूछिये तो जब हम नवीनता की बढ़चढ़ कर बात करते हैं तब यह प्रायः वही होती है।

जो भी हो, अन्ततः बात नावीन्य की, बंधक संस्कार से मुक्ति की है जो विचार के लिए अभीष्ट है। किन्तु क्यों? विचार की गतानुगतिकता में क्या दोष है और नावीन्य में क्या गुण?

यदि इस प्रश्न को किसी वैचारिक वस्तुस्थिति के संदर्भ में देखें तो हम पायेंगे कि यह नवीनता-पुरातनता की सारी बात ही असंगत है। उदाहरण के लिए, हमारे कुछ कहने पर यदि कोई कहता है "किन्तु गीता तो इसके विपरीत बात कहती है।" तो हमारा क्या उत्तर होगा? क्या यह कि इसीलिए वह बात बेकार है क्योंकि वह गीता ने कह रखी है और दूसरे बहुत लोग उसे दुहराते रहे हैं? और कि मेरी बात इसीलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह किसी ने पहले नहीं कही है? स्पष्टतः ऐसा उत्तर कोई नहीं देगा और देगा तो वह उपहासास्पद ही होगा। इसका उचित उत्तर होगा कि "यदि गीता ने मेरी बात के विपरीत बात कही है तो मुझे अपनी बात पर फिर से विचार करना होगा, क्योंकि वह एक महान् विचारक द्वारा कही गई है और असंख्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लोगों द्वारा बार-बार देखी-परखी गई बात है। किन्तु तब भी, गीता में कही गई होने से ही इसे मैं सत्य नहीं मान सकता, क्योंकि गीता की बात भी एक प्रचलित धारणा की ही आवृत्ति हो सकती है और गीता द्वारा उसकी पुष्टि हो जाने पर हो सकता आगे लोगों ने इसके सत्यासत्य पर विचार ही बन्द कर दिया हो। इसलिए उचित यह होगा कि हम गीता का प्रमाण छोड़कर प्रस्तुत बात पर सीधे ही विचार करें।" इस तरह हमारा ध्येय विचार का नावीन्य नहीं सत्य पाना होता है जिसमें विचार को हम उपकरण बनाते हैं।

डॉ. भटनागर की टिप्पणी

दयाजी के लेख के शीर्षक एवं लेख की अन्तिम पंक्तियों पर ध्यान दें तो लगता है कि वे दो प्रस्ताव रख रहे हैं : एक जो विधिपरक है जिसमें पाठक को कुछ करने के लिए आमन्त्रित किया जा रहा है, तथा दो, जिसमें 'दर्शन क्या है?' इस प्रश्न का एक उत्तर सुझाया जा रहा है। जहाँ लेख के कथ्य को इन दोनों प्रस्तावों के क्रियान्वयन के रूप में देखा जा सकता है वहाँ साथ ही वह एक विचार, एक मत विशेष को भी प्रतिपादति करता है।

प्रथम प्रस्ताव का महत्त्व अथवा उसकी आवश्यकता पर तीन दृष्टियों, या तीन पक्षों से विचार किया जा सकता है : सीमित परिप्रेक्ष्य में तो बात सोचने के व्यापार में प्रवेश करने की है, कुछ नया सोचने की है और इस प्रकार दार्शनिक प्रक्रिया में संलग्न होने की है। दयाजी पाठक का आह्वान न केवल दार्शनिक प्रक्रिया में सहभागिता के लिए करते हैं अपितु अपने लेख के प्रसार के माध्यम से वे इस प्रक्रिया का एक उदाहरण भी उपस्थित करना चाहते हैं। सोचने की इस प्रक्रिया का स्वरूप विचार-प्रजनन, विचार से विचार उत्पन्न होने, अथवा विचार के एक प्रकार के प्रवाह तथा प्रवहन को प्रकट करता है।(यह बात लेख पर चर्चा के समय स्वयं दयाजी ने इस प्रकार रखी)। दूसरे, एक व्यापक सन्दर्भ की ओर संकेत किया जा सकता है जो इस देश (भारत) के बौद्धिक पक्ष से जुड़ता है। सामान्य स्थिति तो यह है कि किसी समाज के सांस्कृतिक परिवेश में बौद्धिक तत्त्व के प्रति, चाहे वह कोई सा भी युग हो, सापेक्षतः स्वयं बुद्धि अतृप्त रहती है, उसे एक असन्तोष होता है और यही स्थिति उसकी उपस्थिति तथा प्रतिफलन का स्रोत होती है। परन्तु वर्तमान का सन्दर्भ तज्जनित असन्तोष को अधिक तीव्र बना देता है। वैश्विक परिदृश्य में जब हम अपने देश की बौद्धिक अस्मिता की पहचान में उलझते हैं तो लगता है कि सृजन, नवोन्मेषी सोच तथा समीक्षात्मक दृष्टि के विभिन्न पक्षों में वैश्विक मंच पर हमारी कोई स्थिति विशेष नहीं है। दार्शनिक विचार क्योंकि समस्त बौद्धिक व्यापार में नाभी की भूमिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रखता है अतः वहाँ इस प्रकार की स्थिति असहनीय हो जाती है। दयाजी का यह लेख तथा पिछले दो दशकों से उनके प्रयास, संगोष्ठियाँ, भारतीय मनीषियों को निरन्तर एक-दूसरे के निकट लाने के संयोजन, उनके बीच सम्प्रेषण का परिवेश बनाने की चेष्टा, तथा भारतीय बौद्धिक परम्परा की ओर एक कठोर समीक्षात्मक रुख इसी अवांछनीय स्थिति के परिष्कार की ओर इशारा करते हैं। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है और वह प्रस्ताव के तीसरे पक्ष की ओर ध्यान ले जाता है, कि सोचने का जो दृष्टान्त हमें इस लेख में उपलब्ध है क्या उसका वही एकमात्र रूप है? दूसरे क्या वह किसी नये सोच के स्वरूप अथवा उसकी अन्तर्वस्तु को प्रस्तुत करता है? इस दूसरी बात के सम्बन्ध में दयाजी स्वयं शंका करते हैं परन्तु यह उनकी नम्रता हो सकती है। लेख में कुछ नये सम्बन्ध, नये प्रश्न तथा नई स्थापनाओं को प्रस्तुत किया गया है।

परन्तु 'नये' से दयाजी क्या आशय लेते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट के साथ वे 'विन्यास वैचित्र्य' में नवीनता की संभावना पाते हैं। विन्यास की अवधारणा उन्हें त्वरित रूप में उपादान अथवा सत् तथा विन्यास के सम्बन्ध की ओर ले जाती है और वे 'नयेपन' की उद्‌भावना के अधिक व्यक्त स्पष्टीकरण को पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं। वस्तुतः विन्यास के मात्र वैचित्र्ययुक्त होने से ही 'नयेपन' की बात नहीं बन सकेगी, उसके साथ सार्थकता तथा चित् की उन्मुखता का उल्लेख करना भी जरूरी है। कैसा भी विन्यास हो, चाहे वह कितना ही विचित्र क्यों न हो, वह तब तक 'नवीन सर्जन' की कोटि में नहीं आयेगा जब तक कि वह किसी न किसी सन्दर्भ में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न पा सकता हो तथा किसी की चेतना में पहली बार सम्पृक्त न हो। यद्यपि दयाजी विन्यास की बात करते समय उन घटकों अथवा सत्य या उपादान के उस रूप की चर्चा करते हैं जिसको किसी विशिष्ट विन्यास में पाया जाता है अथवा जिसे कोई विशिष्ट विन्यास दिया जाता है (प्रथम, मानवकृत सन्दर्भ से स्वतन्त्र है, तथा द्वितीय मानव-कर्तृत्व के सन्दर्भ का संकेत करता है), वे प्रथम तो इस बात पर विचार नहीं करते कि विन्यास की संभावना सत् में अव्यक्त रूप में विद्यमान होती है तथा दूसरे इस बात पर कि पूर्व स्थिति में, विन्यास विशेष के असत् होने पर भी, उसका सत् के घटकों से अनिवार्य सम्बन्ध होता है तथा नये की निर्मिति में उपादान का भी समावेश होता है। अन्य शब्दों में 'नया', जो कुछ उसके पहले था या घटित हुआ था, उससे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसलिये नितान्त नये की बात करना विशेष महत्त्व की बात नहीं होगी।

सार्थक विन्यास-वैचित्र्य के रूप में दया जी अतीन्द्रिय अथवा अतिक्रामी दृष्टि तथा भोगे हुए एवं भोग्य अनुभव की दृष्टि पर, मेरी दृष्टि में, पहली बार एक नये सन्दर्भ के अधीन बात चलाते हैं। उनका मानना है कि सत् या तत्त्व के प्रति वह उन्मुखता भ्रान्त है जो उसे परिवर्तन तथा बोध के दायरे से सिद्धान्ततः बाहर रखती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। उस अवस्था में सत् की अवधारणा मानवीय अनुभव, कर्तृत्व तथा ज्ञान की कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकती। यदि विन्यास को अस्थायी या विवर्त मान लिया जाय, मूल सत् की तुलना में गौण अथवा हेय समझा जाय तो संस्कृति के सृजनात्मक पक्ष तथा सृजित कृतियों में कोई सार्थकता नहीं रहेगी। ऐसा नहीं है कि यह पक्ष दयाजी पहली बार उपस्थित कर रहे हैं। उनके मत के पूर्वपक्ष के रूप में यह हमें प्लेटो अथवा नित्यतावादियों का स्मरण कराता है। परन्तु नवीनता, सृजनात्मकता तथा चिन्तन के स्वरूप के सन्दर्भ में इस ओर ध्यान दिलाना एक नई बात है।

विन्यास की अवधारणा वैचारिक स्तर पर भी एक विशेष महत्त्व रखती है, जैसा कान्ट के सन्दर्भ से स्पष्ट होता है। कान्टीय ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से तो ज्ञान का कोई भी विषय हो उसमें विन्यास का प्रवेश बुद्धि के द्वारा ही होता है। कलाकृतियों में तथा साहित्यिक रचनाओं में रचयिता की भूमिका स्पष्ट होती है, परन्तु ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ में इस ओर ध्यान सायास रूप में तथा विश्लेषण की प्रक्रिया के फल के रूप में ही दिया जा पाता है। कालक्रम का सन्दर्भ लेने पर इतिहास के परिप्रेक्ष्य में विन्यास की अवधारणा वैचारिक स्तर पर सिद्धान्त की व्याख्या की दृष्टि से प्रासंगिक हो सकती है, यह दयाजी ने इंगित करने का प्रयास किया है। वर्तमान में जो घटित हो रहा है तथा जो हमारे अवधान का विषय है, वह उपादान रूप में भविष्य में जो हो सकता है उसके स्वरूप के विषय में हमें किसी विशिष्ट कल्पना की रूपरेखा के निर्माण में सहायक हो सकता है। परन्तु ऐसी कल्पना की सार्थकता तथा विश्वसनीयता जब हम वर्तमान को अतीत की घटनाओं के सन्दर्भ में देखते हैं, तो सन्दिग्ध होने लगती है। फिर भी चिन्तन के इस रूप में जिस महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन होता है वह है अनेक विकल्पों/संभावनाओं की परिकल्पना। साहित्यिक समीक्षा तथा ऐतिहासिक चिन्तन में संभावनाओं की दृष्टि से विचार नयी दिशाएं लेता है। दयाजी की बात में यह और जोड़ा जा सकता है कि समस्यामूलक चिन्तन में भी, जो चिन्तन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप है, वैकल्पिक संभावनाओं की उद्भावना एक अनिवार्यता है।

विन्यास की बात दया जी मनुष्य की रुचियों, अभीप्साओं तथा भाषा के सन्दर्भ में भी करते हैं। यहां हमें कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत ही मिलते हैं जिन्हें आगे बढ़ाया जा सकता है। हम में से प्रत्येक का जगत् दूसरे के जगत् से कुछ अंशों में भिन्न होता है। उसकी विषय-वस्तु, उसके भिन्न रंग तथा उसमें निहित संभावनाएं हमारे अनुभवों, आकांक्षाओं तथा कृत्यों से रूप ग्रहण करते हैं जो नित नये आयाम प्राप्त करता रहता है। इस जगत् से हमारी सम्पृक्ति आसक्ति के दर्जे तक हो सकती है तथा हमें इतना स्वकेन्द्रित बना सकती है कि हम अन्य की ओर से नितान्त उदासीन हो जायें तथा उससे सम्प्रेषण का सेतु स्थापित करने की या तो हमें बात ही न सूझे और सूझे भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो वह हमें दुष्कर लगे। यह स्थिति एक समान जगत् के निर्माण में, जिसमें सहभागिता, सम्प्रेषण, सहयोग तथा संरचना हो सके, बाधक सिद्ध होती है।

कदाचित् जो जगत् हम अपने लिए बना लेते हैं, अथवा जिस में हम रहते हैं, अथवा जो हम अपने लिए बनाना चाहते हैं, उस पर हम विचार करें, उसके सत्य का अन्वेषण करें, उसकी वांछनीयता पर गहराई से सोचें तो स्वकेन्द्रित कारा से निकल पायें, तथा समान जगत् में प्रवेश पा सकें, जहाँ संरचना की अनन्त संभावनाएं खुल जायें। लेख के अन्त में दयाजी स्वरचित संसार के सत्य के अन्वेषण तथा साथ मिलकर संसार के निर्माण के लिए आह्वान करते हैं, परन्तु अपने संसार से निकलकर सामूहिक रूप में निर्मित संसार में प्रवेश किस प्रकार संभव है, सामूहिक रूप में निर्मित संसार की कल्पना की संभावना क्या समस्यामूलक नहीं है, इन प्रश्नों पर उन्होंने विचार नहीं किया है।

अन्त में, दया जी दार्शनिक चिन्तन की तुलना भ्रमण से करते हैं। किसी सीमा में दोनों प्रक्रियाओं में कुछ समानताएं हैं – दोनों में से किसी की प्रेरणा किसी साधारण प्रयोजन से निश्चित नहीं होती, किसी ओर जाना है इसके पीछे कोई बाध्यता नहीं होती। फिर भी 'भ्रमण' का रूपक दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप को व्यक्त करने में पीछे रह जाता है। वस्तुतः कोई रूपक किसी विषय की पूर्ण व्याख्या करे, ऐसी अपेक्षा भी युक्त नहीं। तब प्रश्न उठता है कि दार्शनिक चिन्तन में ऐसा कुछ और क्या है जो 'भ्रमण' के रूपक से व्याख्यायित होने से रह जाता है? जयपुर में रहने के कारण, तथा भाग्य से दयाजी का सान्निध्य सहज ही प्राप्त होने के कारण, कई बार उनके विचारों से परिचित होने का अवसर मिला है। दार्शनिक कर्म के विषय में वे बहुधा जो कहते हैं तथा दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति के रूप में जो वे लिखते हैं, वह भ्रम में डालने वाला है। उनको सुनने पर तथा पढ़ने पर लगता है कि वे कम से कम दो बातों पर बल दे रहे हैं। एक ओर तो वे दार्शनिक चिन्तन को किसी खेल के सदृश देखते हैं जो अपना साध्य स्वयं है, जिसमें संलग्नता आनन्ददायक है, जो कदाचित् बुद्धि का सहज धर्म है तथा जो किसी दबाव में सक्रिय नहीं होता, चाहे यह दबाव किसी का आदेश हो, संस्थागत बन्धन हो, अथवा परम्परा या संस्कृति की बाध्यता हो। दूसरी ओर दयाजी के चिन्तन का बहुलांश अनेक प्रयोजनों की पूर्ति के निमित्त संचालित है। बीसवीं सदी की आरम्भिक पाश्चात्य प्रवृत्तियों तथा विचार-तन्त्रों की आलोचना, अनेक ऐसी समस्याओं तथा प्रश्नों पर विचार तथा विश्लेषण जो मूलतः पाश्चात्य सन्दर्भ में उठीं/उठे हैं, भारतीय चिन्तन की परम्परा को आत्मसात् करना तथा उसमें अनेक प्रश्न एवं भ्रान्तियों की ओर ध्यान आकर्षित करना, भारतीय दार्शनिक चिन्तन की अस्मिता की तलाश, अनुजों को निरन्तर कुछ सोचने, कुछ नया सोचने के लिए प्रेरित करना, पाश्चात्य तथा पौर्वात्य के सम्पर्क-सेतुओं का इस दृष्टि से निर्माण कि उससे विचार में कुछ गति आये तथा परस्पर दृष्टियों की समझ बढ़े– ये सार्थक-प्रयोजन दयाजी के चिन्तन की दिशा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निर्धारित करते रहे हैं। अतः यह मानना भ्रान्त होगा कि कुछ भी सोचना, कभी भी सोचना, कहीं भी सोचना, केवल सोचने के लिए सोचना ही दर्शन के स्वरूप को निर्धारित करता है तथा बड़ी-बड़ी पुस्तकों में जो लिखा है उसकी उपेक्षा की जा सकती है। कहना न होगा कि बहुधा विचार के सन्दर्भ में स्वयं दयाजी सवाल उठाते हैं – 'समस्या क्या है?' 'पूर्व पक्ष क्या है?'

इन टिप्पणियों के उपरान्त अन्यों ने भी अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं जो लिखी नहीं जा सकीं। दयाजी ने श्री शल्य की टिप्पणी के उत्तर में कहा, यह सही है कि विचार व्यवस्थित रूप से और सत्य की जिज्ञासा के साथ गहराई में भी करना अभीष्ट होता है किन्तु विचार का एक और भी; ढंग है कि उसे अपने रास्ते स्वच्छन्द चलने दें। विचार के इस दूसरे रूप की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता, मैंने यहाँ उसी की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

सरला कल्ला
गोष्ठी-संयोजिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक-समीक्षा

यूरोप में दर्शनशास्त्र : मार्क्स के बाद — ले. शंकरीप्रसाद बंद्योपाध्याय, प्रकाशक — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, मू. 90/-

उपर्युक्त पुस्तक दर्शन शास्त्र : पूर्व और पश्चिम ग्रन्थमाला की एक कड़ी है। ग्रन्थमाला के अन्तर्गत विश्वव्यापी दर्शनशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना विभिन्न काल-खण्डों में विभाजित करके की गई है। प्रस्तुत पुस्तक में शंकरीप्रसाद वंद्योपाध्याय ने सर्वाधिक चर्चित कालखण्ड 'मार्क्स के बाद' को लिया है। निश्चय ही हीगेल और मार्क्स के बाद का काल दर्शनशास्त्र के इतिहास का महत्त्वपूर्ण और चर्चित काल है जिसमें दर्शन शास्त्री एक-दूसरे को चुनौती देते हुए अपने-अपने दृष्टिकोण को लेकर उभरे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय की विवेचना मध्यममार्गी हीगेलवादियों से सम्वन्धित है जिसमें लेखक को मूलतः हीगेल के दर्शन शास्त्र की बुनियादी मान्यता और विकास में एक वात की स्पष्ट झलक दिखाई देती है कि इसमें गतिशीलता या प्रगति के तत्त्व का प्रायः अभाव है और समाज, मानव और उसकी समस्याओं के प्रति वह चिन्तित और जागरूक नहीं है। दूसरे अध्याय में ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद का विवेचन किया गया है। इसकी विवेचना करने के उपरान्त लेखक यह पाता है कि दर्शनशास्त्र सामान्य बोध से जितना दूर हटता जाता है उतना ही पराया और संदिग्ध होता जायेगा। लेखक के अनुसार बर्ट्रेन्ड रसेल के अतिरिक्त सभी यथार्थवादी विचारकों की रुचि रूढ़ अर्थ में दार्शनिक समस्याओं में ही अधिक रही है और वही उनके सरोकार का मुख्य विषय भी रहा है। यह बात लेखक को खटकती रही है। तीसरे अध्याय में हीगेलवाद से प्रेरित इतालवी विचारवाद का विवेचन किया गया है और इस विवेचन में क्रोचे और जान्तील दोनों को वे वाग्जाल में फँसा हुआ मानते हैं और लेखक यहाँ तक कहने को विवश हो जाता है कि जो विचारक जाने या अनजाने अपने दर्शनशास्त्र द्वारा फ़ासीवाद को प्रोत्साहन देता हो उससे प्रगतिवादी सामाजिक परिवर्तन की आशा निःसन्देह नहीं की जा सकती। यह इतालवी विचारवाद को मानव-स्वतंत्रता को नकारने वाला मानता है। चौथे अध्याय में लेखक ने व्यावहारिकतावाद का विवेचन किया है जो अमेरिकन दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध माना जाता है क्योंकि शिलर के अतिरिक्त अन्य सभी विचारक अमेरीकी हैं। दर्शनशास्त्र के इस सम्प्रदाय को लेखक मानव-केन्द्रित लेखक इस कारण मानता है क्योंकि इसका आरम्भ इस सिद्धान्त वाक्य से होता है कि मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मानदण्ड है। परन्तु विवेचना के उपरान्त लेखक को इस बात का अफसोस रह जाता है कि अधिकांश दार्शनिक चिन्तन-धाराओं का अभिशाप यही सोचना है कि दर्शनशास्त्र में मानव का महत्त्व केवल एक ऐसे व्यक्ति के रूप में है जिसका अपनी सामाजिक स्थिति से कुछ सरोकार न हो। लेखक व्यावहारिकता-वादियों के 'उपयोगिता', 'व्यवहार', 'व्यावहारिकता' आदि की दार्शनिक व्याख्या से पर्याप्त संतुष्ट है परन्तु इस बात से चिन्तित हैं कि अन्ततः वह अकेले व्यक्ति पर ही केन्द्रित हो जाता है। इसलिये वह सामाजिक अस्तित्व के प्रति चेतना दर्शन में सक्षम नहीं हो सकता। पाँचवें अध्याय में फ्रांसीसी विचारक हेनरी बर्गसां की मौलिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चिन्तन पद्धति का विवेचन और परीक्षण किया गया है। परिवर्तन ही सत् है : 'एलॉ-विताल' : का दर्शनशास्त्र निश्चय ही आकर्पक और मुग्ध करने वाला है किन्तु सामाजिक मानव अपनी ही गतिशीलता पर मुग्ध इस दर्शनशास्त्र के केन्द्र के निकट कहीं नहीं दिखाई देता। अध्याय छः में मार्क्स के वियोजन सम्बन्धी विचारों के बारे में चर्चा की गई है जो निश्चय ही पठनीय है। 'मानव ही सर्वोच्च जीवन-मूल्य है और उसी की पीड़ा तो वियोजन है' कहकर लेखक दर्शनशास्त्र को मानव के अत्यन्त सन्निकट ले आता है और उसकी विवेचना अपने को सच्चे अर्थों में मानववादी कहने का तर्क प्रस्तुत करती है। यद्यपि इस सन्दर्भ में मार्क्स का प्रारम्भिक विश्लेषण जितना प्रासंगिक लगता है उतना अपने बाद के काल में नहीं रह जाता।

यद्यपि मार्क्स के वाद के दार्शनिकों का परिचय कराने हेतु लिखी गई पुस्तक में वियुक्तता के वारे में मार्क्स के विचारों की अलग अध्याय में व्याख्या कुछ अनुचित सी जान पड़ती है किन्तु स्वयं लेखक के मानववादी विचारों की पृष्ठभूमि में अन्य अध्यायों को एक सामान्य सन्दर्भ अवश्य प्रदान करती है। पुस्तक की यही विशेषता उसकी सीमा भी बन जाती है जब-हम नीत्शे जैसे महान दार्शनिक का कहीं जिक्र तक नहीं पाते। हीगल के दर्शन को उल्टा खड़ा करने का श्रेय जहां मार्क्स को प्राप्त है वहीं उसके विरोध में व्यक्ति को अपने चिन्तन द्वारा प्रतिष्ठित करने के लिए कीर्केगार्द का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। समाज-मानव पर अधिक जोर देने के कारण सामान्य पाठक अस्तित्ववाद जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आन्दोलन के उद्भव का परिचय पुस्तक से पाने में वंचित रह जाते हैं जो ऐसी किसी भी परिचयात्मक पुस्तक के लिए अभीष्ट है।

मूल पुस्तक अंग्रेजी भाषा में है और इसका अनुवाद सुशीला डोभाल ने किया है। एक अनुवादक को अनुवाद करते समय भावों-विचारों की अभिव्यक्ति और तकनीकी शब्दों के प्रयोग के सन्दर्भ में विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुस्तक के अनुवाद को उन कंटकाकीर्ण मार्गों से गुजरना ही नहीं पड़ा है क्योंकि इस सन्दर्भ में पुस्तक में न तो उनकी ओर से उल्लेख ही किया गया है और पूरी पुस्तक के वाद उसके प्रवाह और भावाभिव्यक्ति से भी ऐसी झलक नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए एलिअनेशन के लिए हिन्दी में अधिक प्रचलित शब्द 'अलगाव' है 'वियोजन' नहीं।

पुस्तक के अन्त में प्रत्येक विचारक का संक्षिप्त परिचय जोड़ देने से पाठक को उससे तादात्म्य स्थापित करना सहज हो जाता है। दार्शनिक मीमांसा में भले ही पुस्तक किसी की आलोचना का पात्र बने परन्तु दर्शन को मानव से जोड़ने और यथार्थपरक बनाने में अपनी भूमिका का निर्वाह करने में यह पूर्णतया सक्षम है। निश्चय ही हिन्दी पाठकों के लिए दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में यह पुस्तक एक वड़ी कमी को पूरा करने में किसी हद तक समर्थ हो सकेगी।

आलोक टण्ड
53, अशराफ टोल
हरदोई (उ. प्र.) 2410

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection